पुष्टिमार्गीय पीठाधीश

(स्वरूप और कर्तव्य)

गोस्वामी श्याम मनोहर

प्राप्तिस्थल :
गोस्वामी श्याम मनोहर
६३, स्वस्तिक सोसायटी,
४ था रस्ता, जुहूस्कीम,
बम्बई, ४०००५६.

BHS

लेखक : गोस्वामी श्याम मनोहर
प्रकाशन वर्ष : वि. सं. २०४३

नि:शुल्क वितरणार्थ

मुद्रक :
खेमराज श्रीकृष्णदास
अध्यक्ष : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस
खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग,
बम्बई–४०००० ४ के लिये दे० स० शर्मा

पुष्टिमार्ग-प्रवर्तक महाप्रभु
श्रीमद्-वल्लभाचार्य के
सिद्धान्तमें निष्ठा
रखनेवालों को
समर्पित

अनुक्रमणिका

विषय सूची	पृष्ठ
क्या आप पुष्टिमार्गीय नहीं हैं !	५
विषय प्रवेश	
उपक्रम	९
विचारार्थ उपजीव्य प्रमाणव्यवस्था	१०
विचाराधिकार का स्वरूप	११
विचार्य विषय का सामान्य स्वरूप	१६
उक्त विषयगत संशय का सामान्य स्वरूप	,,
विचार स्वरूप	१७
आद्य श्रुतिकल्प प्रकरण	
प्रथम सूत्र भाष्य	१९
द्वितीय सूत्र भाष्य	२६
तृतीय सूत्र भाष्य	४१
चतुर्थ सूत्र भाष्य	४९
पञ्चम सूत्र भाष्य	५१
षष्ठ सूत्र भाष्य	५९
सप्तम सूत्र भाष्य	६७
अष्टम सूत्र भाष्य	७०
नवम सूत्र भाष्य	८१
श्रुतिकल्प प्रकरण समाप्ति	
परिशिष्ट	
(सप्तम पीठाधीश श्रीघनश्यामलालजी महाराज का दिनांक १।२।५६ का लेख)	९६
आधारभूत सहायक ग्रन्थोंकी तालिका	१०६

क्या आप पुष्टिमार्गीय नहीं हैं !

असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेद् ।
निवेदितैः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः ।। (सिद्धान्त रहस्य)

ब्रह्म सम्बन्ध के बिना सर्वदोषों की निवृत्ति सम्भव नहीं अतः असमर्पित वस्तु का त्याग करना चाहिये. अतएव परिवारजनों को भगवत्सेवामें सहयोगी बनाना चाहिये. इसी तरह अचेतन वस्तु गृह वित्त अन्न वस्त्र आभूषण आदि को भी उचित रीति से भगवत्सेवा में काम में लाकर फिर अपने काम में लाना चाहिये. यह अपने भक्तिमार्ग की निर्दुष्ट मर्यादा है (उपरोक्त श्लो. ४–५ की श्रीपुरुषोत्तमजी की व्याख्या का हिन्दी-अनुवाद).

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा ... कृष्णं भजेत् (भक्तिवर्धिनी)

अपने मार्ग में भगवद्भजन घर में रहे बिना सम्भव नहीं है. घर में रह कर किये जाते भगवद्भजन के प्रकार के अलावा भगवद्भजन का अन्य कोई प्रकार है ही नहीं. अतः भगवद्भजनानुकूल गृह में रह कर स्वधर्मतः श्रीकृष्ण की सेवा करनी चाहिये (उपरोक्त श्लोक की श्रीगोकुलनाथजीकृत व्याख्या).

कृष्णसेवा सदा कार्या .... तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा (सिद्धान्तमुक्तावली)

भगवत्सेवार्थ दूसरे का धन लेना या दूसरे किसी को धन देना भगवत्सेवा करने की उचित रीति नहीं है. अतएव श्रीमहाप्रभु 'तनुजा सेवा' या 'वित्तजा सेवा' यों दो तरह की अलग-अलग सेवा करने का उपदेश देते नहीं हैं. परन्तु 'तनुवित्तजा' पद के प्रयोग द्वारा एक ही प्रकार की सेवा करने का उपदेश दे रहे हैं (उपरोक्त श्लोक की श्रीप्रभुचरणकृत विवृति).

सेवा करने के लिये किसी दूसरे को धन देने से अहंकार बढ़ जाता है. सेवा करने के लिये दूसरे किसी का धन लेने से सेवा निष्फल बन जाती है। (उपरोक्त विवृति की श्रीपुरुषोत्तमजीकृत व्याख्या)

दाने हि न स्वविनियोगः नतु निवेदने (श्रीप्रभुचरणकृत नवरत्न प्रथम श्लोक की विवृति)

प्रभु को दानरूपेण अर्थात् भेट के रूप में कुछ भी धरा जाता हो वह देवद्रव्य बन जाता है. अतः अपने उपयोग में आ नहीं सकता, परन्तु हम स्वयं जो अपने मांथे बिराजते प्रभु की सेवा में निवेदित समर्पित-विनियुक्त करते हैं वह देवद्रव्य नहीं बनता अतः पुनः अपने काम में भी लाया जा सकता है (उक्त विधान की व्याख्या).

तब एक वैष्णवने शंका कीनी जो महाराज ! वा दिन आपुने राजभोग ताईको प्रसाद गोअन को खवायो और श्रीयमुनाजी में पधरायो ताको कारण कहा ? तब आप कहे जो कटोरी (गिरवी) धरि के सामग्री आई सो तो भोग श्रीठाकुरजी आप ही के द्रव्य को आरोगे सो तो आप ही को भयो. जो श्रीठाकुरजी को द्रव्य खायेगो सो मेरो नाहि अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहूं न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो. ताते वा प्रसाद में ते भोजन करवे को अपनो अधिकार न हतो. वाके लिये गोअनकों खवायो अरु श्रीयमुनाजी में पधरायो. (घरु वार्ता)

कौण्डिन्यो गोपिका प्रोक्ता गुरवः साधनं च तद्–
त्वो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ।। (संन्यासनिर्णय)

गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्वभावकत्वाद् आश्रमधर्मैरेव लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत् . . . एतेन यावद् अन्तःकरणे साक्षात् प्रभोः प्राकट्यं नास्ति तावदेव बहिः आविष्करणं भवति. प्राकट्ये तु तया न सम्भवति (अणु भाष्य ३।४।४९).

पुष्टिभक्ति व्रजभक्तों के भावों की भावना के साथ करनी चाहिये, दूसरे किसी साधन की अपेक्षा नहीं है, फिर भी भाव यदि गुप्त रहता है तभी वृद्धिगत हो सकता है. अतः आश्रम धर्मों की ओट में अपने भगवद्भाव को छिपाये रखना चाहिये. जिसके हृदय में भगवान् बिराजते नहीं हैं वही व्यक्ति अपने भावों को जनता में प्रदर्शित कर सकता है. प्रभु, यदि, हृदयमें बिराजते हों तब बहिराविष्करण सम्भव नहीं (पूर्वोदाहृत दोनों वचनों की एक वाक्यता के साथ अनुवाद).

कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम् ।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद जिज्ञासुरादरात् ।।
पदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् ।
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम् ।। (सर्वनिर्णय २२७)

जो गुरु भगवत्सेवा को उत्तम मानकर अन्यों की सेवा का उपदेश देता हो तो स्वयं भगवत्सेवा में तत्पर क्यों नहीं रह सकता ? अतः भगवत्सेवा में तत्पर पुरुष को ही गुरु बनाना चाहिये. वह भगवत्सेवा दम्भ (धनसंग्रहार्थ शिष्यजनसंग्रहार्थ संगठनसंग्रहार्थ अथवा कीर्तिसंग्रहार्थ) आदि हेतु से प्रेरित नहीं होनी चाहिये. क्योंकि सिद्धान्त के अनुसार की जाती सेवा ही पुरुषार्थरूपा होती है. मन में कुछ और प्रयोजन रखकर बाहर से सेवापरायणता का दिखावा करने पर सेवा सफल नहीं होती. गुरु जिसे बनना हो उसे यह आवश्यक है कि वह भागवत के प्रमुख सिद्धान्त या तत्त्वों का जानकार भी हो. ऐसा यदि गुरु न मिलता हो तो कहीं रह कर स्वयमेव भगवतत्स्वरूप की सेवा में तत्पर हो जाना चाहिये (उपरोक्त कारिकाओं की श्रीमहाप्रभुकृत व्याख्या का अनुवाद).

. . . तेन गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति. युक्तञ्च एतद् अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसञ्जनात्. किञ्च ऋतोत्तरम् अमृताख्यायाः अयाचितवृत्तेः उक्तत्वात् तस्यामपि शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्य तु एवं संकोचे तस्यामपि प्रशस्तत्वसिद्धिः (श्रीपुरुषोत्तमजी कृत स्ववृत्तिवाद)

. . . इससे यह सिद्ध होता है कि गुरु के रूप में हमें दी जाती चरणभेंट द्वारा ही हमें हमारा निर्वाह चलाना चाहिये, यही उचित रीति है. अन्यथा कुछ भी उपकार किये बिना किसी दूसरे का धन लेना तो ऋण की तरह होता जिसे न चुकाने पर पाप लगता है, बिना मांगे जो मिलता हो उसमें भी शिष्य के द्वारा गुरुभावना के साथ जो दिया जाता हो उसीसे निर्वाह चलाने का व्रत लेना और भी प्रशंसनीय है (उपरोक्त स्ववृत्तिवाद का अनुवाद).

चितिं च चितिकाष्ठं च पूयं चण्डालमेव च ।
स्पृष्ट्वा देवलकं चैव सवासा जलमाविशेद् ।।
दे वार्षिकपरो यस्तु विसार्थी वत्सरत्रयम् ।
स वै देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हितः ।। (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत द्रव्यशुद्धि)

शव, शवदाहार्थ प्रयुक्त काष्ठ, रुधिर आदि अपवित्र वस्तु, मरे जानवर की खाल निकाल कर बेचनेवाला तथा देवलक का स्पर्श होने पर सवस्त्र स्नान करके ही घर में प्रविष्ट होना चाहिये. धन कमाने के लिये अर्थात् आजीविका के रूप में जो तीन वर्ष पर्यन्त देवपूजा करे उसे अपवित्र देवलक समझना चाहिये (उपरोक्त कारिकाओं का अनुवाद).

ततो भागवतं कृत्स्नम्, एतदभ्यसनाल्लोको
मुच्यतेनुपजीवनात् . . . पठनीयं प्रयत्नेन सर्वं हेतुविवर्जितं,
मुख्यार्थं नैव युंजीत प्राणैः कण्ठगतैरपि,
तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहमाचरेद् (सर्वनिर्णय)

श्रीमद् भागवत के अभ्यास से सब कुछ सिद्ध होता है, किन्तु शर्त यही है कि भागवत का उपयोग आजीविकार्जन हेतु नहीं होना चाहिये. भागवत का पाठ सर्वथा प्रयोजन रहित ही करना चाहिये (अर्थात् चन्दा एकत्रित करना विगेरे हेतुवश भी नहीं). आजीविकार्जनार्थ तो प्राण आकर गले में अटके हों तब भी भागवत का दुरुपयोग नहीं करना चाहिये (उपरोक्त कारिकाओं का अनुवाद).

इस तरह के श्रीमहाप्रभु के इन सिद्धान्तों से सर्वथा विपरीत सार्वजनिक न्यास अथवा सार्वजनिक निजी मन्दिरों में चलती भगवत्सेवा के मखौल में सम्मिलित होकर, वहां नित्यनियम के साथ दर्शन करने जाने के दुराग्रह के कारण, धनोपार्जन के हेतु किये जाते मनोरथों की झांकी के धरमधक्के को आर्थिक या सक्रिय प्रोत्साहन देकर, देवद्रव्य से धरने में आती भोग सामग्री, कि जिसे लेने पर श्रीमहाप्रभु हमें 'महापतित' गिनते हों, उसे भी मोहवश लेकर, चन्दा एकत्रित करने को की जाती भागवत सप्ताहों को आर्थिक या अन्य रीति से प्रोत्साहन देकर हमने अपने श्रीमदाचार्यचरण के साथ जबरदस्त विश्वासघात किया है.

इसके परिणामतया अपने देश के उच्चतम न्यायालयने अपने सिद्धान्तों की अवगणना करके तीन-तीन फैसले अपने विरुद्ध दिये हैं–अपने-आपको वैष्णव कहनेवाले सम्प्रदायद्वेषिओं की हलकी बातें न्यायाधीशों के गले में उतर जाती हैं परन्तु अपने दिव्य सिद्धान्त उनके गले में उतरते नहीं हैं. पारिवारिक भावना से पहले दी गई वैष्णव जनता को अपने सेव्य प्रभु के दर्शन करने की छूट के दुष्परिणामतया आज अपने सम्प्रदाय के धर्मगुरुओं को पूजारिपन के निम्न स्तर पर फेंक देने के सम्प्रदाय विरोधी षड्यन्त्र सफल होने जा रहे हैं। अन्त में इन

षड्यन्त्रों के शिकार हुये हताश गोस्वामि महानुभाव एक दिन स्वयं को देवलक पूजारि ही मान लेने की हीनताग्रन्थी से बंध जायेंगे. अपने दिव्य सम्प्रदाय की ऐसी दुर्गति करने के अपराधी अनुयायी वैष्णव लोग हैं कि धर्माचार्य महाराजश्री इस विवाद का समय बीत गया है.

आईये ! हम श्रीमहाप्रभु से अपने दुष्कृत्य की क्षमायाचना करें और शपथ लें कि–

(१) जो अपने माथे न बिराजते हों ऐसे ठाकुरजी के दर्शन करने का नित्यनियम नहीं लेंगे कि जिससे कोई भी पुष्टिप्रभु को मन्दालय छोड़ कर सार्वजनिक अनाथालय में बिराजने का परिश्रम पड़े क्योंकि अपने इस तरह के दुष्कृत्य से आम जनता का कानूनी अधिकार पैदा होता है.

(२) जो मनोरथ मनोरथी के स्वयं के धन से स्वयं अपने माथे बिराजते सेव्य स्वरूप का तथा अपने निजजनोंके साथ न मनाया जा रहा हो ऐसे मनोरथ में, भेट-सामग्री देकर अथवा दर्शन करने जा कर श्रीमहाप्रभु आदि के सर्वस्व निधिस्वरूपों, सम्प्रदाय या सिद्धान्त के साथ अब हम कभी विश्वासघात नहीं करेंगे.

(३) सार्वजनिक मन्दिरों में श्रीमहाप्रभु के सिद्धान्त से विपरीत देवद्रव्य से अथवा गैरव्यवहारसम्बन्धी दर्शनार्थिओं के द्रव्य से धरने में आती भोग-सामग्री श्रीपुष्टिप्रभु या तो अरोगते ही नहीं है या फिर देवद्रव्य से अरोगी हुई सामग्री का प्रसाद लेना श्रीमहाप्रभु ने पातित्यकारी माना है, अतएव किसी भी सूरत में प्रसाद लेना ही नहीं चाहिये. अतः सार्वजनिक मन्दिर का प्रसाद हम कभी लेंगे नहीं.

(४) चन्दा एकत्रित करने के लिये आयोजित किये जाते भगवन्मनोरथ या भागवत सप्ताह में दर्शन-श्रवण करने के हेतु हम कभी जायेंगे नहीं, ताकि साक्षात् भगवत्स्वरूप या भगवद्रूप भागवत पुराण के क्रय या विक्रय के हम अपराधी बन जायें.

आज दिन तक जो हमसे श्रीमहाप्रभु की आज्ञा का उल्लंघन, चाहे अज्ञानवश या मोहवश या प्रमादवश, हुवा हमारे ऐसे सभी अपराधों को श्रीपुष्टिप्रभु श्रीमहाप्रभु तथा श्रीप्रभु चरण क्षमा करें; और पुष्टिसृष्टि के सभी जीवों को पुष्टिपथ की यात्रा में सिद्धान्ताभिमत दिशा में अग्रसर होने को मति रति तथा क्रियाशक्ति प्रदान करें ! "बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पाद पद्मं प्रसोदतु !"*

---

*सैंकडों की तादात में अब स्वसिद्धान्त में सच्ची निष्ठा रखनेवाले वैष्णवों ने यह शपथ स्वयं लेनी शुरू की है तथा अन्यों को भी प्रेरित कर रहे हैं, यह गोस्वामिबालकों के विरोध में कोई आन्दोलन नहीं है किन्तु सम्प्रदाय के सिद्धान्त भावना तथा श्रीमद्वल्लभवंशज गोस्वामिओं से द्वेष रखनेवालों के कुटिल षड्यंत्रों का प्रतीकार है. कुछ स्वार्थान्ध अथवा अपठित लोग इसे श्रीमद्वल्लभवंशज गोस्वामिओं एवं सम्प्रदाय का विरोध बता रहे हैं. उन्हें उल्लिखित वचनों का दूसरा अर्थ क्या है यह कह बताने की चुनौती हम देते हैं साथ ही साथ ग्रन्थान्त में परिशिष्टतया प्रदत्त सप्तम गृहाधीश गो. श्रीघनश्यालालजी महाराज के अतीव मननीय वक्तव्य के मनन की सलाह देते हैं. –लेखक

विषय प्रवेश

श्रीगोवर्धननाथपादयुगलं हैयंगवीनप्रियं नित्यं श्रीमथुराधिपं सुखकरं श्रीविठ्ठलेशं मुदा।
श्रीमद्द्वारवतीशगोकुलपतिं श्रीगोकुलेन्दुं विभुं श्रीमन्मन्मथमोहनं नटवरं श्रीबालकृष्णं भजेत् ।। १ ।।

श्रीमद्वल्लभविठ्ठलौ गिरिधरं गोविन्दरायानिधिं श्रीमद्बालककृष्णगोकुलपतिं मायं रघूमौ तथा एवं श्रीयदुनाथकं किल घनश्यामं च तद्वंशजान् कालिन्दीं स्वगुरुं गुरुं गिरिविभुं स्वीयप्रभूंश्च स्मरेत् ।। २ ।।

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विठ्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान् ।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति ।। ३ ।।

वागर्थाविव सम्पृक्तौ ग्रन्थकृत्तौ हि यन्मुखे ।
वक्तारं तं विभुं वन्दे तद्वागर्थोपलब्धये ।। ४ ।।

अपने सम्प्रदाय में एक लम्बे अरसेसे षष्ठपीठ के बारे में विवाद चला आ रहा है. पूर्व काल में भी इस प्रश्न या समस्या का समाधान कभी भी सन्तोषकारी खोजा नहीं जा सका और न आज ही हमारे इस प्रयास से भी वैसी कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि की सम्भावना है. फिर भी इस निबन्ध को प्रकट करने की तात्कालिक आवश्यकता यह है कि वर्तमान शताब्दी में श्रीमहाप्रभु के सिद्धान्तों से सर्वथा विपरीत होने पर भी स्वधर्म रूप भगवत्सेवा सेवास्थलों तथा सेव्य स्वरूपों के व्यावसायिक प्रदर्शनों के कारण पुष्टिभक्ति की गौरवपूर्ण परम्परा का जो विकृत रूप अनुयायिजनसमाज में तथा न्यायालयों में उभरा है उस विकृत रूप को ही सारी सिद्धान्त निष्ठा को छोड़ कर इस विवाद के पक्षधरों द्वारा पुष्ट किया जा रहा है. ऐसी स्थिति में इस विवादास्पद विषय के बारे में जो कुछ सिद्धान्तसंगत तथ्य हमारी समझ में आये हैं उन्हें सभी सिद्धान्तनिष्ठ विचारकों के समक्ष प्रस्तुत करना हमारा परम कर्तव्य हो जाता है.

अन्यथा आज तक इस विवाद को हमने किसी भी तरह का तूल देना नहीं चाहा था. यही कारण था कि षोडश ग्रन्थों के प्रकाशन के अवसर पर बडौदास्थित और सूरतस्थित दोनों ही गृहों को हमने षष्ठपीठतया ही स्वीकार किया था. उसमें भी पुनः कारण यही था कि एक तो यह बात ऐसे मनोमालीन्य का हेतु बन सकती है कि जिससे न तो वाल्लभ सम्प्रदाय में स्वस्थ स्पर्धाजन्य किसी तरह के विकास की सम्भावनायें स्वीकारी जा सकती हैं और न विवादग्रस्त पक्षधरों के धर्माचार्य पदोचित आदर्श रूप को ही इसके स्पष्टीकरण द्वारा उजागर किया जा सकता है. उचित होता कि कालक्रमवश स्वतः महत्त्वहीन बनकर यह विवाद सम्प्रदाय में विस्मृत हो जाता, उसके विपरीत आज इसे उस आत्मघाती सीमा तक हठात् खींच कर ले जाया जा रहा है कि जहां पहुंचने पर हमें पुष्टिमार्ग के तथाकथित पांच सौ वर्ष की किंवदन्ती को प्रामाणिक मानने को विवश होना पड़ेगा.

इस यादवस्थली जैसे विवाद को पुष्टिमार्ग के पांच सौ वर्ष की परिसमाप्ति के अन्तिम अध्याय का वर्ण्यविषय बनाना ही हो तो "भगवदिच्छा बलीयसी" मान कर उसे हमें शिरो

धार्य करना पड़ेगा, परन्तु पुष्टिमार्ग के वर्तमान काल के इतिहास में सिद्धान्तनिष्ठा के अभाव के लांछन का कुछ थोडा बहुत भी प्रक्षालन यह निबन्ध कर पाये तो हम अपने आपको धन्य मानेंगे.

विचारार्थ उपजीव्य प्रामाण्य व्यवस्था

वर्णाश्रम धर्मानुयायी सभी वेदादिशास्त्रप्रामाण्यवादी लोगों के लिये धर्मरूप स्व कर्तव्य के स्वरूप के निर्धारणार्थ एक आदर्श प्रमाण व्यवस्था यह दिखलायी गयी है "श्रुति स्मृतिसदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्" (याज्ञवल्क्य स्मृति) श्रुत्यादि चतुष्टय में परस्पर संवाद रहने पर मुख्य कल्पतया निर्विचिकित्स धर्मस्वरूप का बोध होता है. अन्यथा पूर्व-पूर्व से अविरुद्ध तथा अनवगत विषय का प्रतिपादन यदि उत्तरोत्तर में उपलब्ध होता हो तो मध्यमकल्पतया उसे भी अनुसरणीय धर्म ही स्वीकारा जाता है. पूर्व पूर्व से विरुद्ध उत्तरोत्तर प्रमाण के प्रामाण्य में संकोच की कल्पना भी करनी पड़ती ही है.

जैसी यह एक सामान्य प्रामाण्यव्यवस्था हम सभी वर्णाश्रमधर्मानुयायियों के लिये मान्य है वैसी ही एक विशेष प्रामाण्यव्यवस्था हम पुष्टिमार्गानुयायियों के लिये भी स्वीकारी जा सकती है.

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण, गोस्वामी श्रीगोपीनाथप्रभुचरण तथा गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथप्रभुचरण के साक्षात् वचन हम सभी के लिये श्रुतिकल्पतया मूलभूत प्रमाण वचन होने चाहिये, परवर्ती व्याख्याकार वार्ताकार एवं वचनामृतकार महानुभावों के वचन, हम पुष्टिमार्गीयों के लिये, स्मृतिकल्प प्रमाण बन सकते हैं. हमारे यहां विभिन्न घरों में प्रचलित विभिन्न प्रणाली या परम्पराओं को सदाचार कल्प प्रमाण माना जा सकता है. उदाहरण तया धैया बोलते समय किसी घर में श्रीबालकृष्णजी का नाम लिया जाता है, तो दूसरे घर में श्रीकल्याणरायजी का, सम्भव है कि कहीं कुछ भी नाम न लिया जाता हो, क्योंकि सेवा विधि के प्राचीन ग्रन्थों में इस तरह नाम लेकर धैया भोग करने का विधान ही उपलब्ध नहीं होता. श्रीहरिरायजीविरचित साहस्री भावना, श्रीद्वारिकेशजीकृत भावभावना, श्रीगोपेश्वरजी कृत रश्मि (४।३।१६) के परिशिष्ट, मटेश श्रीइन्दिरेशकृत नित्य सेवाह्निक विधि प्रकाश आदि सभी ग्रन्थ इस विषय में मौन हैं. यदि यह श्रीमत्प्रभुचरण द्वारा प्रवर्तित नियम, जैसा कि कतिपय अपठित लोगों का कहना है, होता तो वह इन सेवा विधिओं में अवश्य सन्निविष्ट होता. इससे सिद्ध होता है कि धैया में इन निधिस्वरूपों के नाम बोलने की विधि तत्तद् गृहों में भिन्न भिन्न होने से तत्तद् गृहों का केवल सदाचार शिष्टाचार है, सिद्धान्त नहीं है. अन्त में इनसे अविरुद्ध जो भी कुछ रागद्वेषरहित बुद्धि से देशकालादि के औचित्य के विचारवश हमें उत्तम लगता हो वह भी सम्यक् संकल्पज कामरूप स्वात्मप्रिय ऊह के समान प्रमाण माना जा सकता है.

जिस वस्तु या कर्तव्य में इन चारों प्रमाणों का संवाद अनुभूत होता हो उसे मुख्यतम कल्प समझना चाहिये. पूर्व-पूर्व में अनुपलब्ध किसी बात की प्रामाणिकता के निर्धारणार्थ

उत्तरोत्तर प्रमाणों पर अवलम्बित होना चाहिये किन्तु पूर्व-पूर्व से विरुद्ध उत्तरोत्तर प्रमाण के प्रामाण्य का संकोच भी स्वीकारना चाहिये.

इस तरह की प्रामाण्यव्यवस्था यदि मान्य न हो तो स्पष्ट है कि वाल्लभ सम्प्रदाय में किसी भी वस्तु या कर्तव्य का स्वसिद्धान्तोचित स्वरूप निर्धारित कर पाना एक दुष्कर बात बन जायेगी.

विचाराधिकार का स्वरूप

स्पष्ट है कि श्रीमहाप्रभु अथवा श्रीप्रभुचरण के साक्षात् वचनों में कोई बात उपलब्ध हो जाती हो तो अन्य किसी के विचाराधिकार के विमर्श का कोई प्रसंग ही उपस्थित हो नहीं सकता. उदाहरणार्थ कुछ देर के लिये ऐसा मान कर चलें, जो एक वास्तविकता भी है ही, कि षष्ठपीठ कौन सी है इस बारे में श्रीमहाप्रभु अथवा श्रीप्रभुचरण के कुछ भी वचन उपलब्ध नहीं होते, ऐसी स्थिति में प्रामाणिक षष्ठपीठ कौन सी है यह कैसे निर्धारित किया जाये? किसे निर्णयाधिकारी होने की मान्यता प्रदान करनी चाहिये ?

शंका :

(१) क्या इस प्रश्न को पुष्टिमार्गानुयायी सर्वसाधारण जनता की बहुमति द्वारा निर्धारित किया जा सकता है ?

अथवा

(२) क्या इसे वैष्णवों की प्रतिनिधीभूत संस्था अन्तरराष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् या स्वधर्मविवर्धिनी सभा या वि. पी. एस. एस. जैसी संस्थाओं के कार्यकर्ताओं के किसी सामान्य या विशेष अधिवेशन में उपस्थित प्रतिनिधियों की बहुमति के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है ?

अथवा

(३) क्या इस प्रश्न को श्रीमद्वल्लभवंशज गोस्वामिपरिषद् या अन्तरराष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् द्वारा कागज पर उपस्कृत आचार्यपरिषद जैसी किसी संस्था के सदस्यों की बहुमति द्वारा निर्धारित किया जा सकता है ?

अथवा

(४) क्या इसे सात पीठों के पीठाधीश और/अथवा केवल प्रमुख पीठाधीश श्रीतिलकायित महाराजश्री की बहुमति या निजमति द्वारा निर्धारित किया जा सकता है ?

अथवा

(५) क्या इस विवाद को देश के किसी न्यायालय में प्रस्तुत कर उच्च या उच्चतम न्यायालयीय निर्णय द्वारा निर्धारित किया जा सकता है ?

इन पांचों में से अथवा ऐसे ही अन्य भी किसी पदधारी अथवा पदवीधारी व्यक्ति के निर्णायाधिकार का विषय क्या इसे माना जा सकता है ?

समाधान :

(१) शंका के समाधानरूपेण यह ज्ञातव्य है कि षष्ठपीठ षष्ठपीठाधीश अथवा षष्ठ निधि का स्वरूप महत्त्व एवं कार्यकलाप यदि सर्वथा लौकिक ही हों तो परिवर्तनशील लौकिक

बहुमति के द्वारा आज इसे तो कल किसी अन्य को तत्तत् समय पर षष्ठपीठ पीठाधीश एवं षष्ठनिधि के रूप में निर्वाचित किया जा सकेगा. परंतु षष्ठपीठ पीठाधीश एवं पीठनिधि का स्वरूप महत्त्व एवं क्रियाकलाप यदि अलौकिक मानते हैं तो उसमें लौकिक बहुमति का प्रामाण्य मान्य नहीं हो पायेगा.

(२) शंका के समाधानरूपेण यह ज्ञातव्य है कि किसी भी परिषद् या संस्था के कार्यकर्ता प्रतिनिधि या सदस्यों की बहुमति तो सामान्य वैष्णव जनता की बहुमति की तुलना में और भी अधिक संकीर्ण तथा क्षुद्र गुटबाजी से भी प्रभावित हो सकती है. इसके अलावा न तो ऐसी कोई सर्वमान्य संस्था विद्यमान है और न ऐसे थोथे दावे के आधार पर अकाट्य प्रामाण्य की कल्पना ही की जा सकती है.

हाल ही में कुछ समय पूर्व करमुक्ति के मोहवश, "वैष्णव परिषद् में अवैष्णवों को भी सदस्य एवं पदाधिकारी बनाये जा सकता है", ऐसी आत्मघाती योजना विचारी जा रही थी. सौभाग्यवश प्रबल विरोध उठ खड़ा हुवा और उस योजना तथा उसके पुरस्कर्ता दोनों को परिषद में से निकाल दिया गया. अन्यथा भविष्य में अपुष्टिमार्गीय "आराम-दक्ष" लोग इस पुष्टिमार्गीय संस्था में घुस कर इस सम्प्रदाय के भाग्यविधाता बन बैठते. और ऐसी स्थिति में स्वसम्प्रदायकी पीठ के पीठाधीश किस व्यक्ति को बनाया जाय, इसका अधिकार भी अवैष्णवों में निहित हो जाता. ऐसी अव्यवस्था हमें स्वीकार्य न हो तो फिर इन संस्थाओं को पीठाधीश नियुक्त या निर्धारित करने का अधिकारी कैसे माना जा सकता है !

(३) शंका के सन्दर्भ में किन्हीं महानुभावों का यह भी कहना है कि षष्ठपीठ का विवाद बड़भैय्याओं के विचाराधिकार का विषय है. छुटभैय्याओं को इसमें सिरपच्ची करनी ही नहीं चाहिये.

परन्तु इस बाबा आदम के जमाने की धारणा की विवेचना करनी चाहिये कि छुटभैय्या है कौन ? क्योंकि स्वयं सुरतस्थ गृह को षष्ठपीठ सिद्ध करने को निरन्तर उद्यमशील समादरणीय श्रीकल्याणराजी तथा श्रीवल्लभरायजी सूरत के घर में तो छुटभैया हैं, क्या उन्हें इस विवाद में पड़ना नहीं चाहिये ? स्वयं श्रीविठ्ठलनाथप्रभुचरण भी कनिष्ठ बन्धु थे और आज उन्हीं का वंश विद्यमान है. श्रीगोपीनाथप्रभुचरण का वंश तो विद्यमान ही नहीं, अतः क्या सभी गोस्वामिमहानुभावों को इस विषय में मौन सेवन करना चाहिये ? क्योंकि गोस्वामि तिलकायितश्री अर्थात् प्रधानपीठाधीश या प्रथम पीठाधीश भी श्रीगिरधरजी के ज्येष्ठ पुत्र के वंशज न होकर द्वितीय एवं तृतीय पुत्रों के वंशज हैं. ऐसी स्थिति में तो ऑपनिंग बेटमेन ही क्लीन बोल्ड हो जायेंगे, छुटभैया होने से ! यदि विद्यमान सभी गोस्वामिओं के तत्तत् परिवार में जो बड़भैया हों उन्हीं को बोलने का अधिकार हो तो प्रस्तुत निबन्ध लेखक भी अपने परिवार में ज्येष्ठ है कनिष्ठ नहीं.

रही बात केवल सात पीठ या प्रमुखपीठ सहित आठ पीठ के बड़भैय्याओं को ही इस विषय में बोलने के अधिकारी मानने की बात तो इस षष्ठपीठ के ही विवादग्रस्त होने के कारण कोरम में एक मत कम रहेगा. अथवा तीनों दावेदारों को भी विवाद चर्चा में सम्मिलित करने पर छुटभैयाओं को बोलने का अधिकार देना ही पड़ेगा. क्योंकि यह सहज सम्भव है कि

तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम-सप्तम-पीठों के बड़भैयाओं के अनुसार सूरत का घर तृतीय छुटभैयाका घर कहा जा सकता है. और तो और स्वयं सूरतस्थ समादरणीय पू. गो. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज ने भी नडियाद के केस की जुबानी में तो "सूरतनी हवेली शामलजीना पुत्र श्रीव्रजरायजी महाराजे स्थापित करेली, श्रीव्रजरायजी महाराज श्रीविठ्ठलनाथजीना त्रीजा लालजी श्रीबालकृष्णजीना घरमां आवे" (गो. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज, बी. बी. देसाई कमिश्नर ऑफ खैरा, स्पेशियल सूट नं. २५४३ ता. २।११।४६) कह कर सूरत के घर को (तृतीयगृह/२) ही माना है, ऐसा कहा जा सकता है. इसी तरह सम्भव है काशी एवं बडौडा के घरों को प्रथम तथा द्वितीय पीठाधीश छुटभैयाओं का घर मानें !

कुल मिला कर छुटभैया तथा बडभैया का विभाजन इसमें निभ नहीं पाता है.

थोड़ी देर के लिये मान लिया जाये कि गोस्वामी श्रीतिलकायित महाराज काशी एवं सूरत के बीच में किसे षष्ठ माना जाये इस बारे में किसी निश्चित निर्णय पर पहुंच नहीं पाते और अनिर्णय की स्थिति में मौन धारण कर लेते हैं. प्रथमेश तथा द्वितीयेश सूरत के गृह को षष्ठतया मान्यता प्रदान करना चाहते हों परन्तु तृतीयेश-चतुर्थेश-पञ्चमेश-सप्तमेश एकमत से बडौदा के गृह को ही षष्ठपीठतया मान्य करते हों तो बड़भैयाओं के एकमत के अभाव में यदि बहुमति से निर्णय लें तो बड़ौदा सिद्ध होगा. इसे, परन्तु, श्रीतिलकायित महाराज से मान्यता नहीं मिलेगी. प्रथमेश द्वितीयेश के अन्यों से बड़भैया होने के कारण यदि सूरत के गृह को षष्ठपीठ मानते हैं तो ज्येष्ठतम प्रधानपीठाधीश की अनिर्णयात्मिका मनोवस्था का बहाना बना कर अन्य कोई मान्य नहीं करेंगे. अन्त में अगतिकतया केवल प्रधान पीठाधीश गोस्वामितिलकायित महाराजश्री के निर्णय पर सब कुछ छोड़ दिया जाता है तो, वह केवल श्रीनाथद्वारा में श्रीनाथजी के पास षष्ठनिधितया पधराने और छठी आरती के अधिकार प्रदान करने की सीमित मान्यता का ही द्योतक होगा, सर्वमान्य नहीं. भूतकाल में भी उदाहरणतया नाथद्वारा में षष्ठपीठतया काशी के घर को गोस्वामि-तिलकायितश्री की मान्यता प्राप्त थी. परन्तु वह सर्वमान्य न हो पाई स्वयं वर्तमान गो श्रीतिलकायित महाराजश्रीने भी पहले एक बार श्रीमुकुन्दरायजी को ही षष्ठनिधितया नाथद्वारा पधराये थे सूरतवाले श्रीबालकृष्णजी को नहीं. हाल में किन्तु श्रीबालकृष्णजी षष्ठ पीठाधीशता के दावें की घोषणा के साथ पधराये गये, जिसमें "मौनं संमतिलक्षणम्" की नीति के अनुसार गो. श्रीतिलकायित महाराजश्री द्वारा न तो उन्हें शब्दशः मान्यता प्रदान की गयी और न काशी के घर को प्रकट शब्दों में अमान्य ही किया गया. इस तरह तो कल यदि बड़ौदा के गृह का कोई गोस्वामी गोस्वामितिलकायित महाराजश्री को रिझा ले तो भविष्य में सूरत-काशी दोनों की मान्यता निरस्त करवा कर बड़ौदा के हक में भी निर्णय ले लेना कोई अशक्य बात नहीं है. षष्ठनिधि होने के दावे के साथ श्रीबालकृष्णजीका एक स्वरूप सप्तमपीठ में भी बिराज रहा है. और वे भविष्य में यदि कभी गोस्वामितिलकायितश्री को रिझा लें तो कल उन्हें भी षष्ठ-सप्तमोभयपीठ की मान्यता मिल सकती है !

इससे सिद्ध होता है कि न तो सप्तगृहों की बहुमति और न प्रधानपीठ की प्रमुखमति ही इस विषय में अन्तिम निर्णायक बात मानी जा सकती है.

(४) शंका के समाधानरूपेण यह ज्ञातव्य है कि उदाहरणतया श्रीवल्लभवंशज गोस्वामि परिषद् की ओर से प्रकाशित वंशवृक्ष जैसे सूरत के घर को मान्य नहीं, ठीक उसी तरह अन्तर-राष्ट्रीय वैष्णव परिषद् द्वारा पुरस्कृत आचार्य परिषद् भी पुष्टिमार्ग के अन्य आचार्यों को मान्य नहीं है. ऐसी स्थिति में न तो गोस्वामिपरिषद् और न आचार्यपरिषद् की ही बहु-मति के आधार पर कुछ भी निर्धारित हो सकता है.

(५) शंका के समाधानरूपेण यह ज्ञातव्य है कि गुजरात-उच्च न्यायालय ने तथा देश के उच्चतम न्यायलय ने वाल्लभ सम्प्रदाय के सेवास्थलों को सार्वजनिक स्वामित्व के मन्दिर तथा वाल्लभ सम्प्रदाय के धर्मगुरुओं को वहां पूजारि-ट्रस्टी मान लिया है. क्या एतावता वाल्लभ सम्प्रदाय में श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण के निषेधों की अवहेलना करके अपने आपको हम पूजारी मान पायेंगे ? अवधेय है कि श्रीमदाचार्यचरण आज्ञा करते हैं "मेरो हो के देव द्रव्य खावेगो सो महापतित हो जावेगो मेरो नाहि कहावेगो" (घरु वार्ता) तो क्या हम महा-पतित देवलक पूजारी हैं ? कोई भी सिद्धान्तनिष्ठाशील व्यक्ति सिद्धान्तविरुद्ध ऐसे न्यायलयीय निर्णयों को हृदय से तो स्वीकार नहीं पायेगा, अप्रतीकार्य होने से भीतिवश या स्वार्थवश अथवा लज्जाग्लानिवश सिद्धान्तों को जनता के समक्ष स्वीकारने चाहे तैयार न भी हो !

छह वर्ष स्वमार्गीय सिद्धांतों को गुरुमुख से सीखने के बाद स्वयं को सिद्धान्तमर्मज्ञ माननेवाले एक गोस्वामिमहानुभाव से जब हमने कहा कि "क्या आप पुष्टिमार्गीय नहीं हैं।" (इस निबन्ध के प्रारम्भ में सहलग्न) का कौन सा शब्द या कौन सी पंक्ती सिद्धान्त से विरुद्ध है जरा निकाल कर दिखा दें ! तो बिचारे घबरा गये और कहने लगे–"सभी कुछ ठीक है हमें आपके साथ कहां मतभेद है ?" जब इस निबन्ध लेखक ने अनुरोध किया कि "तब यही बात लिख दो ताकि जो लोग यह कहते हैं कि नवोदित सिद्धान्त मर्मज्ञ (!) महाराजश्री को शपथ पत्र सिद्धान्ततः मान्य नहीं है तो उन्हें दिखलाया जा सकें !" तो बगल झांकने लग गये कि "लिख कर तो मैं नहीं दे सकता." इन्हीं के सहयोगी दूसरे दो विख्यात विद्वान महानुभावों में से एकने हमसे कहा कि "भगवत्सेवार्थ अथवा भगवन्मनोरथार्थ अन्य से द्रव्य नहीं लेना चाहिये यह सिद्धान्त तो मान्य है, परन्तु चार-पांच वर्ष पर्यन्त जब तक कोई अन्य धन्धा हमारा जम नहीं जाता, तब तक सहसा भगवत्सेवार्थ द्रव्य लेना बन्द करने की आप कहें तो हम कहां जायें ?" सामान्यतया तो लोग विवाह से पूर्व अपना धन्धा निश्चित कर लेते हैं. अब कोई धर्मोपदेशक सन्तती के पिता बनने के बाद भी, धर्मसंमत या धर्मविरुद्ध कौनसा धन्धा करना निश्चित न कर पाये तो हमारी समवेदना ही हम प्रकट कर सकते हैं अन्य कुछ नहीं !

स्पष्ट है कि भीतिवश या स्वार्थवश चाहे कोई स्वीकारे या न स्वीकारे परन्तु अन्तर्मन से तो सभी समझते हैं कि न्यायालयीय निर्णय हमारे सिद्धान्तों के विरुद्ध है. यही स्थिति इस विवाद में भी होगी–जिसके विरुद्ध निर्णय आया.

इसके अलावा न सिद्धान्तनिष्ठा और न सिद्धान्तबोध अर्थात् उभय से शून्य ऐसी पुष्टि-मार्गीय जनता में निधिस्वरूपों के दर्शनार्थ भटकते कई लोग यह भी सोचने लगे हैं कि पुष्टि-मार्गीय हवेलिओं का मुख्य प्रयोजन जिन वैष्णवों से स्वगृह में भगवत्सेवा निभती हो या न

निभती हो उन्हें दुकान-ऑफिस पहुंचने में आड़े न आये इस तरह निधि स्वरूपों की नित्यसेवा दर्शन-मनोरथदर्शन–भेट-सामग्री–समाधान की सुविधा प्रदान करना ही है !

स्वाभाविकतया ऐसी मनःस्थिति के कारण अपनी भेट से टी. वी. विडीओ रेफ्रीजिरेटर एयरकंडीशनर आदि के ऐशोआराम में गोस्वामिओं को पलते देखकर उन्हें लगता है कि क्या पुष्टिमार्गीय हवेली कोई सस्ते पूजारिओं के द्वारा संचालित नहीं हो सकती ? ऐसा कोई पूजारि जो सादगी भरा जीवन जी कर इन निधि स्वरूपों की, नित्यसेवा-मनोरथ-दर्शन-भेट-सामग्री-प्रसाद-समाधानात्मिका पञ्चधा भगती का निर्धारित समयानुसार प्रदर्शन करनेवाली हवेलि चलाता हो. आज की देशकाल की परिस्थिति में क्या यह अधिक उपयोगी नहीं होगा ?

अनन्तर भविष्य में नित्य-सेवा-मनोरथ-दर्शन-भेट-सामग्री-प्रसाद-समाधानात्मिका सार्वजनिक पञ्चधा भगती की शोखीन जनता ऊहापोह करेगी कि इन महंगे पूजारिओं को निकाल कर सस्ते (कम खर्चीले) सादे तथा सर्वदा मन्दिर में नौकरी पर हाजिर रहने वाले टिकाउ पूजारि नियुक्त होने चाहिये. आन्ध्रप्रदेश में अनुसूचित जातियों को भी मन्दिर में सेवा पूजार्थ प्रशिक्षित किया जा रहा है, सो न्यायालय में इस आशय के दावे की यदि जीत हो गई तो इन्हीं नवनिधिओं की सेवा के हेतु तनुवित्तजा सेवा को स्वधर्मबुद्धया नहीं परन्तु आजीवि-कार्थ करनेवाले, स्वगृहोचित पुष्टिभावसंगोपन की गरिमा तथा नवधा भक्ति के साथ नहीं किन्तु नित्य-सेवा-मनोरथ-दर्शन-भेट-सामग्री - प्रसाद-समाधानात्मिका पञ्चधा भगती करने-वाले पूजारि (!) की नियुक्ति हो जायेगी. तो क्या ऐसे पूजारिओं को भी पीठाधीश मानना ? वहां आन्ध्रप्रदेश में भी आनुवंशिक अधिकार समाप्त होने जा रहा है सो बकरीकी मां यहां उत्तर में कब तक खैर मना पायेगी ? अतः गोस्वामि बालकों से हमारी करबद्ध विनम्र प्रार्थना है कि अब ऐसी बाललीला बन्द कर दें ! स्वसम्प्रदाय तथा स्वसिद्धान्त के गौरव का न सही, कम से कम, आत्मगौरव का खयाल रखते हुवे भी वैचारिक एवं व्यावहारिक कुछ प्रौढता प्रकट करें. हमें हिम्मत रखनी चाहिये कि आज दिन तक जनता ने हमें जो आदर दिया है वह कतिपय निधि स्वरूपों के पूजारि होने के कारण नहीं, अपितु श्रीमद्वल्लभाचार्य के वंशज होने के कारण ही दिया था. फिर मिथ्या मोह की आवश्यकता क्या है ?

स्वधर्मानुयायी जनता से स्वधर्मोपदेशात्मक सम्बन्ध को निभाने के आलस्य एवं उपेक्षा के कारण; तथा निचले तले पर भगवत्प्रदर्शन के जोर शोर से चलते व्यवसाय के कारण जो आर्थिक लाभ दिनदुगुना मिलता रहता है, उसके कारण भी आज हम भीतर से अकर्मण्य–सत्त्व-पौरुषहीन बन गये हैं. अन्यथा इन निधिस्वरूपों की ओट में हमने अपनी आजीविका कमाने की प्रमादवृत्ति न दिखलायी होती तो, जैसे अन्य धर्मोपदेशकों के वैभव पर लोग आपत्ति नहीं उठाते, वैसे ही हमारे वैभव भी लोगों की आंखों में चुभते नहीं. क्योंकि जनता भी यह जान जाती कि जब इन्हें भेट धरी है तो इन्हें वापरने का भी अधिकार है. आज जनता के हृदय में यह भाव दूर करना मुश्किल है कि वाल्लभ सम्प्रदाय के धर्मगुरु भगवान के नाम पर धन बटोर कर खुद गुलछर्रे उडा रहे हैं !

अतः पूजारिपीठवाद को बहु प्रचारित करने पर कल जिस किसी व्यक्ति को सरकार हमारे सम्प्रदाय में प्रधान पीठाधीश, प्रथमेश या द्वितीयेश आदि बना देगी तब उन्हें हमें भी

स्वीकारना पड़ेगा. और हमारे मार्ग में स्वयं हमने जो खड्डे खोदे हैं उनमें न केवल हम ही गिरेंगे परंतु सारे सम्प्रदाय समेत श्रीमहाप्रभु की सर्वस्व इन निधिओं को भी गिरा देंगे !

इससे सिद्ध होता है कि वाल्लभ सम्प्रदाय में षष्ठपीठ षष्ठनिधि अथवा षष्ठपीठाधीश के निर्धारणार्थ श्रीमदाचार्यचरण-श्रीप्रभुचरण, परवर्ती व्याख्याकार-वार्ताकार-वचनामृतकार, तथा उन-उन घरों में प्रचलित प्रणाली और साथ ही साथ वर्तमान देश-काल के अनुसार बनते-बिगड़ते कानून एवं जनभावना का भलीभांति विचार कर रागद्वेषरहित बुद्धि से तथा मूलाचार्यों के वचनों से अविरुद्ध जो भी हमें उचित लगे उसे निर्धारित करना चाहिये. साम्प्रदायिक किसी भी प्रमेय-कर्तव्य का बोध साम्प्रदायिक प्रमाणों के आधार पर निर्धारित होना चाहिये– यथाकथञ्चित् नहीं.

विचार्य विषय का सामान्य स्वरूप

सम्प्रदाय में लम्बे अरसे से चले आ रहे इस विवाद के अनुसार षष्ठपीठ के तीन दावेदार हैं :

(१) बड़ौदा स्थित गृह जहां हाल ही में श्रीयदुनाथवंशसमुद्भूत नित्यलीलास्थित गोस्वामी श्रीवल्लभलालजी महाराज की धर्मपत्नी श्रीमती कृष्णावती बहुजी महाराज ने तृतीय पीठाधीश्वर गोस्वामी श्रीव्रजेशकुमार के द्वितीयात्मज गोस्वामी श्रीद्वारकेश बाबा को अपने धर्मपुत्रतया मनोनीत किया है.

(२) काशी स्थित श्रीयदुनाथवंशसमुद्भूत शुद्धाद्वैतमार्तण्डकार श्रीगिरधरजी का गृह जहां हाल ही में गोस्वामी श्रीमुरलीधरजी महाराज का नित्यलीलाप्रवेश हो जाने के कारण पीठासन रिक्त हुआ है.

(३) गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरण के तृतीयात्मज श्रीबालकृष्णवंशसमुद्भूत श्रीव्ररायजी द्वारा सूरत नगर में स्थापित गृह जहां सम्प्रदाय के वयोवृद्ध सम्मान्य विद्वान् गोस्वामी श्रीव्रजरत्न लालजी महाराज, जो औरस क्रम में श्रीगिरिधरजी के वंशजतया, विराजमान हैं.

इन तीनों में सच्चा दावेदार कौन है यह इस निबन्ध का मुख्य विचार्य विषय है.

उक्त विषयगत संशय का सामान्य स्वरूप.

यहां संशय इसलिये पैदा होता है कि सम्प्रदाय में क्या –

(१) किसी विशेष निधिस्वरूप की सेवा हेतु उपयुक्त स्थल (गृह/पीठ/हवेली/मन्दिर) को तथा वहां निवास करनेवाले सेवाकर्ता श्रीवल्लभवंशज को केवल सेवाधिकारितया पीठाधीश माना जा सकता है क्या ?

अथवा

(२) स्वसम्प्रदाय के प्रमुख पीठाधीश गोस्वामितिलकायित महाराजश्री जब जिस पीठ का जिसे अधिपति मान लें क्या वही उस पीठका पीठाधीश हो सकता है–अन्य नहीं ?

अथवा

(३) वाल्लभ सम्प्रदाय में धर्माचार्य न तो सम्प्रदायानुयायी जनता द्वारा सार्वजनिक निर्वाचन की प्रक्रिया से और न किसी समिति विशेष द्वारा मनोनयन की प्रक्रिया से बनते हैं. अपितु आर्ष प्रणाली के + अनुसार श्रीमद्वल्लभाचार्य के वंश में पुरुष सन्तती को स्वसिद्धान्तानुमत स्वकर्तव्य के निभाने पर अर्थात् जन्मकर्मसमुच्चयेन स्वतः ही गुरुत्वाधिकार प्राप्त हो जाता है. जहां तक किसी गृहविशेष या पीठविशेष के अधिपति होने का प्रश्न है तो वह उस गृह या पीठ के पूर्वाधिपति से औरसक्रमवश अथवा अनौरस होने पर भी शास्त्रीय विधि दत्तक/द्वामुष्यायणवश अथवा लौकिक विधि गोद जानेवश या भेंट रूप प्राप्त करनेवश बने उत्तराधिकारी को ही प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं.

यह आनुवंशिक उत्तराधिकार जैसे 'छुटभैयाओं' के घर में उत्तराधिकार या दायभाग के कारण प्राप्त होता है वैसे ही 'बडभैयाओं' के घर में भी उत्तराधिकार या दायभाग के कारण ही प्राप्त होता है. पूर्वपीठाधीश के सेव्य निधिस्वरूपकों लड-झगड कर या चुरा कर अर्थात अनुत्तराधिकारवश हथियाकर सेवा करने लग जाने के कारण नहीं.

इन त्रिविध कल्पों में से कौन सा कल्प सम्प्रदाय में सर्वमान्य पूर्वोक्त प्रमाणचतुष्टयी के आधार पर प्रामाणिक है ? वह प्रामाणिक कल्प इन दावेदार बड़ोदा-काशी-सूरत में किस गृह में परिलक्षित होता है ? अर्थात् किसी स्वरूपविशेष के सेवाधिकारवश पीठाधीशता आती होती तो वह देवलक पुजारी में भी पीठाधीशता लायेगी. तब पुजारिपीठवाद प्रामाणिक सिद्ध होगा. अन्यथा श्रीमद्वल्लभाचार्यकुल में जन्म लेना स्वमार्गीय प्रणाली से स्वसम्प्रदाय मन्त्रों की दीक्षा लेना तथा स्वधर्मपरायण रहना इतने सामान्य लक्षण के अलावा तत्तत् पीठ या गृह में कुलाचार की रीति के अनुसार जिसे उत्तराधिकार मिला हो वह उस गृह या पीठ का पीठाधीश बनता है. यह प्रामाणिक व्यवस्था हो तो आचार्यपीठवाद प्रामाणिक सिद्ध होगा.

संक्षेप में, पूजारिपीठवाद प्रामाणिक है या आचार्यपीठावाद यही संशय का सामान्य स्वरूप है.

विचारस्वरूप

प्रस्तुत निबन्ध इस संशय के समाधान की प्राप्ति के प्रयास में वादरूपेण लिखा जा रहा है. अतः क्रमशः विषय संशय पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष तथा संगति के विन्यासद्वारा ही विचारार्थ अग्रसर होना हमें अभीष्ट है. एतदर्थ साधक अथवा बाधक जो भी उल्लेख, हमें सम्प्रदाय के इस विवाद से संबंधित जिस किसी ग्रन्थ में उपलब्ध होते हों, उन्हें यथाशक्य संकलित करके हम विषय वाक्यतया इस निबन्ध में प्रस्तुत करना चाहेंगे. जो वचन हमारी असावधानी के कारण यहां संकलित न हो पायें हों और उनका इस विवादास्पद विषय के साथ साक्षात् अथवा परम्परया कुछ सम्बन्ध हो तो विद्वान आलोचक उन्हें हमारे सामने लायेंगे. इससे हम उनके चिरकृतज्ञ

+ आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते । गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद वृत्तिमाचरेत् । एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान् । प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद् देहमात्मनः ।। (मनुस्मृति २।२४७-८) गुर्वभावे तत्पत्न्यां तत्पुत्रे तद्गोत्रे वा ब्रह्मचर्यम् इति ज्ञापयितुं 'कुल' पदम् (भाष्य प्रकाश ३।४।४७)

होंगे. ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्टतया उनका समावेश भी अवश्य करेंगे. इन विषय–वाक्यों के पूजारिपीठवादी तथा आचार्यपीठवादी व्याख्यानों के विकल्पवश संशय का निरूपण चिकीर्षित है. पूर्वपक्ष सर्वदा पूजारिपीठवादिओं की युक्ति के संकलनार्थ रहेगा और उत्तरपक्ष में उन युक्तिओं का आचार्यपीठवादिओं द्वारा दिये जाने वाले समाधानों का संकलन होगा. ऐसी वैचारिक संगति के निरूपणद्वारा हमें विश्वास है कि अनाग्रही विचारकों के सामने सारी स्थिति साफ-साफ झलकने लग जायेगी.

यद्यपि पूर्वकाल में श्रीतेलीवाला प्रभृति ने भी इस विषय पर लेखिनी उठायी थी परन्तु जैसा सांगोपांग विचार हमें यहां अभीष्ट है. वैसा उस समय हो नहीं पाया था. प्रस्तुत विवादाग्रस्त विषय की सैद्धान्तिक, व्यावहारिक, वर्तमानकालिक तथा स्वसम्प्रदाय की हितेच्छा की पृष्ठभूमि पर यह सारा विचार हमें चिकीर्षित है. अतएव इस निबन्ध के प्रथम श्रुतिकल्प प्रकरण में श्रीमदाचार्यचरण तथा श्रीगोपीनाथप्रभुचरण एवं श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण के वचनों को विषयवाक्यतया उपस्थापित करना है. द्वितीय स्मृतिकल्प प्रकरण में इन मूलाचार्यों के वचनों की व्याख्या अथवा चरित्र निरूपक वार्ता अथवा सिद्धान्त और इतिवृत्त निरूपक वचनामृतों को संकलित कर विषयवाक्यतया उपस्थापित करना है. तृतीय सदाचारकल्प प्रकरण में सम्प्रदाय के विभिन्न गृहों में प्रचलित प्रणालिका के विमर्श द्वारा पूजारिपीठवाद तथा आचार्य पीठवाद में से कौन सा युक्त है एवं कौन सा अयुक्त या अनुपयुक्त है इसकी विचारणा हमें अभिलषित है. चतुर्थ ऊहकल्प प्रकरण में वर्तमान देशकाल की परिस्थिति को लक्ष्य में रख कर क्या करना उचित है यह विचारना अभीष्ट है.

यदि इस प्रयास से विवाद का उपशम हो जाता हो तो निःसन्देह वह एक महती कृपा परमात्मा की हम सम्प्रदाय पर मानेंगे. वैसे विवादोपशम न भी होता हो तो भगवदिच्छा मान कर "तथैव तस्य लीलेति मत्त्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेद्" आदेशानुसार हम तो निश्चिन्त ही हैं. क्योंकि हमारा प्रयोजन न तो जल्पशैली में और न वितण्डाशैली में ही विवाद करने का है. हमारा तो प्रयोजन केवल तत्त्वनिर्णय तथा सम्प्रदायहित ही है. फिर भी विजिगीषावश भी कोई जल्प करना चाहे तो भी हम यथामति प्रस्तुत तथा प्रतिबद्ध हैं. वितण्डा तो उभयतः स्वस्व पक्षों के स्थापित ही हो जाने के कारण अप्रासंगिक है. हमारी ओर से हम सभी विद्वान् महानुभावों को आमन्त्रित करते हैं कि इस निबन्ध में जो भी अनुक्त या दुरुक्त हो हमारे दृष्टिपथ में लाये, हम ऐसी आलोचना का हमारे एतद्विषयक सूत्र तथा भाष्य के ऊपर वार्तिक के रूप में समादर करेंगे.

किम् अधिकम् . . .

यदि स्फुरति दूषणं निपुणबुद्धयः सर्वथा
मदीय वचसि स्फुटं तदपि युक्तिभिर्दीयताम् ।
विचारभरचातुरीफलमिदं हि लोके यतः
समाधिकुशलस्य तद् भवतु चापि कौतुहलम् ।।

श्रुतिकल्प प्रकरण

सूत्र

पीठाधीशता-सम्पादक अष्टनिधिओं की सेवा में उक्त महत्त्व का या अष्टपीठ का उल्लेख श्रीमन्महाप्रभुविरचित ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता है (१।१)

भाष्य

इस अधिकरण में सामान्यतया श्रीमदाचार्यचरणविरचित यच्च-यावद् ग्रन्थों में स्थित वचन विषय वाक्य हैं. उनमें न तो किसी स्वरूप का षष्ठत्व निरूपित हुआ है और न किन्हीं आठ स्वरूपों का स्वसेवया पीठाधीशताधायक माहात्म्यविशेष हो.

इससे प्रतीत होता है कि सभी स्वरूप समप्रधान हैं. परवर्ती व्याख्याकार वार्ताकार एवं वचनामृतकार गोस्वामिमहानुभावों के वचनों का बहुधा ऐसा अर्थ स्वीकारा जाता है कि आठ निधिस्वरूपों की बाल्लभ सम्प्रदाय में प्रमुखता उन्हें अभिमत है. यह यदि श्रीमदाचार्य वचन से विरुद्ध न हो तो व्याख्या-वार्ता-वचनामृत ग्रन्थों का भी स्मृतिकल्प प्रामाण्य तो स्वीकृत ही है. एतावता अष्टनिधि की प्रमुखता सिद्ध तो होगी. यह प्रमुखता, किन्तु, स्वरूपगत ही है या स्वरूप की सेवा करनेवाले में भी यह स्वरूपगत-प्रमुखता अनुसंक्रान्त होती है ? यह संशय यहां पैदा होता है.

पूजारिपीठवाद का पूर्वपक्ष यहां यह है कि मूल श्रीमदाचार्यवचनों में अनिरूपित होने पर भी, श्रीप्रभुचरण के काल में आठ मुख्य स्वरूप एक सिंहासन पर सेवा में विराजते थे, इन्हीं आठ स्वरूपों में से, बाद में बंटवारा के समय, एक-एक (या एकाधिक भी) स्वरूप निजसुतों को यथायथ पधराये गये. एतावता इन स्वरूपों की मुख्यता श्रीप्रभुचरण द्वारा निरूपित हुई है. अथवा एतद्द्वारा कम से कम इन स्वरूपों में वह मुख्यता आहित तो हुई ही है. अतएव इनके सेवाधिकार से पुष्टि सम्प्रदाय में आठ गोस्वामी 'प्रमुख पीठाधीश' कहलाते हैं. इन अष्टान्तर्गत स्वरूपों में षष्ठनिधि कौन से स्वरूप हैं यह विवादास्पद विषय हो सकता है, एतावता अष्टनिधिस्वरूपों की प्रमुखता तथा उनकी सेवा करनेवालों श्रीमद्वल्लभवंशज आठ गोस्वामिमहानुभावों की प्रमुख पीठाधीशता विवादास्पद हो नहीं सकती. विचार, अतएव, इस बात का होना चाहिये कि इन आठ निधिस्वरूपों में से षष्ठनिधि क्या सूरतस्थित श्रीबालकृष्णजी हैं या काशीस्थित श्रीमुकुन्दरायजी अथवा बड़ौदास्थित श्रीकल्याणरायजी. तीन में से जो भी निधि षष्ठ हो उसकी सेवा के द्वारा सेवाकर्ता में षष्ठपीठाधीशत्व स्वतः आ जायेगा.

आचार्यपीठवाद का उत्तर पक्ष इस तरह है : श्रीमहाप्रभुविरचित पूर्वोत्तर मीमांसा भाष्य, प्रकरणत्रयोपेत-सप्रकाश निबन्ध, सूक्ष्म टीका के त्रुटित अंश, प्रथम-द्वितीय-तृतीय-दशम एकादश स्कन्ध की सुबोधिनी, यमुनाष्टकादि षोडश ग्रन्थ तथा अन्य भी प्रकीर्ण ग्रन्थों में; अथवा श्रीमत्प्रभुचरण विरचित ग्रन्थों में भी स्वप्रवर्तित सम्प्रदाय में किसी या किन्हीं निधि स्वरूपों की सेवा के अधिकार के कारण अपनी नादसृष्टि या बिन्दुसृष्टि में विशेषाधिकारशाली आचार्यत्व गुरुत्व या पीठाधीशत्व आयेगा, ऐसा कोई भी विधान उपलब्ध नहीं होता.

स्वयं जिन अष्ट निधिस्वरूपों की सेवा के अधिकार के कारण, एक वल्लभवंशज में सजातीय इतर वल्लभवंशज से उत्कृष्ट या विशेष माहात्म्यशाली पीठाधीशता आ जाती है, ऐसा कहा जा रहा है, उन स्वरूपों की भी इतर भगवत्स्वरूपों से उत्कृष्ट या विलक्षण महत्ता सिद्धान्त-तया कहीं प्रतिपादित हुई नहीं है. ऐसी स्थिति में इनकी सेवा के कारण उत्कृष्ट गुरुत्व की तो चर्चा ही दूरापास्त है. बावजूद इसके प्रणालिका या रूढी में आठ निधि स्वरूपों तथा आठ पीठाधीशों की कुछ विशिष्टता जो कही–मानी जाती है वह सैद्धान्तिकी महत्ता न होकर केवल रूढीगत व्यवहार की महत्ता है. यह व्यवहारोपयोगी तथा व्यवहारार्थ संभवतः उचित होने पर भी सम्प्रदाय के सिद्धान्त की पदवी पर बिराज नहीं सकती. सिद्धान्त और रूढी में परस्पर प्रभेद यही है कि एक मूलाचार्यवचनसिद्ध है तथा दूसरी वचन से अविरुद्ध होने पर अनुसरणीय अन्यथा त्याज्य.

रूढी का मूल स्रोत भी विचारणीय होता है. मूलाचार्य की व्यावहारिक कृति में किसी रूढी के मूल हो सकते हैं तथा परवर्ती आचार्यों की व्यावहारिक कृति में भी. स्पष्ट है कि प्रथम रूढी द्वितीय रूढी से बलवती मानी भी जा सकती है, यदि मूलाचार्य की कृति व्यावहारिक होने पर भी सैद्धान्तिक आग्रह का पुट लिये हुए हो. यदि इन निधिस्वरूपों में स्वरूपगत ऐसा माहात्म्य होता कि जो इनकी सेवा करता हो वह पीठाधीश बन जाता होता तो यह निश्चित है कि श्रीमहाप्रभु ने जिन वैष्णवों को सेवार्थ ये स्वरूप पधराये थे उन्हें दीक्षाप्रदान आदि के अधिकारों से भी मण्डित किया होता. जिन वैष्णवों को दीक्षा प्रदान के अधिकार से मण्डित किया था उन्हें इन निधिस्वरूपों में से एक भी निधिस्वरूप पधराया गया नहीं था, यह सम्प्रदायेतिहास से स्पष्ट ही है.

श्रीनाथजीकी साक्षात् सेवा अपुष्टिमार्गीय बंगालिओं को सौंपी गई थी, बाद में सामग्री सेवा रामदास चौहान को तथा व्यवस्था-सम्पादन का अधिकार श्रीकृष्णदासजी को सौंपा था. उल्लेख, परन्तु, यह कहीं नहीं मिलता कि इन्हें अष्टाक्षर या ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा प्रदान के आचार्योचित अधिकार भी दिये गये थे.

श्रीनवनीतप्रियाजी गज्जन धावन को सेवार्थ पधराये गये थे–श्रीमथुरेशजी पद्मनाभदासजी को पधराये गये थे. श्रीद्वारकाधीश दामोदरदास संभलवाले को पधराये गये थे. श्री गोकुलचन्द्रमाजी नारायणदास ब्रह्मचारी को सेवार्थ पधराये गये थे. इनमें से किसी को भी दीक्षाप्रदान करने के अधिकारों से मण्डित नहीं किया गया था. जिन गोपालदास नरोडावारे आदि वैष्णवों को दीक्षा प्रदान करने के अधिकार दिये थे उनके माथे सात आठ या नौ निधिस्वरूपों में से एक भी स्वरूप पधराये नहीं गये.

जहां तक षष्ठनिधि के तीन दावेदार स्वरूपों का प्रश्न उठता है तो हम देख सकते हैं कि श्रीकल्याणरायजी बाबा वेणुदास को तथा श्रीमुकुन्दरायजी रामदास मुखिया को सेवार्थ पधराये गये थे. इन दो में से किसी एक को भी षष्ठपीठाधीश माना नहीं गया. जहां तक सूरतस्थ श्रीबालकृष्णजी के स्वरूप का सवाल है तो वह तो अनिश्चत इतिहास के कारण सर्वथा सन्दिग्ध ही है.

कहा जाता है कि कुलपरम्परागत होने से यह स्वरूप श्रीमदाचार्यचरण के साथ ब्रह्मचर्यावस्था से ही यात्रा के समय विराजता था, परन्तु श्रीयदुनाथजी के अनुसार "श्रीवल्लभेन देवालयं गत्वा एका शालिग्रामशिला श्रीभागवतपुस्तकं च याचितं, मात्रा हरिस्वरूपं च तदा जनानां: प्राह 'इयं शिला बिरञ्चेः अर्चिता भगवद्वदनसंगता सम्यग् रक्षणीया, अयं मुकुन्दः श्रीगोविन्दाचार्यैः दत्तः, बालकृष्णो विष्णुमुनिना, श्रीमदनमोहनो यज्ञनारायणाय ... नीयतां यद् रोचते' इतिशिलां मुकुन्दं पुस्तकं गृहित्वा चलितः" (श्रीवल्लभ-दिग्विजय प्रथम अवच्छेदः) इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मचर्य काल से तो श्रीबालकृष्णजी साथ में नहीं थे।

तृतीय यात्रा में "श्रीबालकृष्णवात्सल्यनिष्ठानिमग्नमानसः" (श्रीबदरीनाथ तीर्थ के पुरोहित को वि. सं. १५६८ अर्थात् तेतीसें वर्ष में लिखे वृत्ति पत्र में) "श्रीबालकृष्ण . . . " नाम के प्रयोगवश अनुमान किया जाता है कि तब ये स्वरूप साथ में सेवा में विराजमान थे– परन्तु श्रीमदाचार्यचरण के आसुर-व्यामोहलीला के बाद भी अपने अग्रज श्रीगोपीनाथजी को लिखे पत्र में श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरण श्रीबालकृष्णजी का उल्लेख नहीं करते. इससे सिद्ध होता है कि उक्त पुरोहित को लिखे वृत्तिपत्र में 'श्रीबालकृष्ण' नाम सेव्य निधिस्वरूप का वाचक न होकर श्रीकृष्ण के बालरूप का वाचक है.

षष्ठनिधि चरितामृत में "श्रीबालकृष्ण प्रभुजी को श्रीयमुनाजी से प्राप्त हुये थे. "काशीवाले श्रीरणछोडजी महाराज (वि. सं. १८५७) के श्रीमुख के वचनामृत बड़े प्राचीन स्वरूपों के सम्बन्धमें सुनकर मथुरावाले श्रीपुरुषोत्तमजी महाराजश्री के आत्मज श्रीरमणजी द्वारा रचित "श्रीमहाप्रभु और श्रीगुसांईजी के सेव्य स्वरूप निरुपण" नामक ग्रन्थ में (पृष्ठ १५६ पर) उल्लेख है कि 'अब गांव सूरत में विराजित श्रीबालकृष्ण, श्रीमहाप्रभुजी के सेव्य, सो श्रीमहाप्रभुजी के जनेऊ में उरझिके श्रीयमुनाजी में से पधारे सो श्रीव्रजरत्नलालजी महराज के मांथे विराजत हैं (अभी सूरत में विराजमान श्रीव्रजरत्नलालजी के तातजी का यह नाम है)," पृष्ठ २ पर यह कहा गया है. परन्तु सम्प्रदायकल्पद्रुमकार ने इन श्रीरमणजी (जन्म वि. सं. १९०४) के वचनामृत से बहुत पहले अर्थात् वि. सं. १७२९ में यह स्पष्टीकरण दे रखा है कि "कर्णवेध के कूपसों बालकृष्ण पधराय नन्दनन्दन के सेव्य जो श्रीवल्लभ पहचान द्वारकेश प्रभु पास ही पधराये नृप मान, यमुन स्नान फिर करत प्रभु बालकृष्ण प्रकटाय देत जु राणा व्यासकों प्रेम पेख हरखाय" (सं. क. द्रु. ५।२१-१२). इससे सिद्ध होता है कि एक श्रीबालकृष्णजी का स्वरूप प्रारम्भ से श्रीद्वारिकाधीश की गोद में सम्पुटजी में बिराजमान हुआ था. यह श्रीद्वारिकाधीशका ही प्रतिनिधि स्वरूप होने से श्रीप्रभुचरण ने इनका उल्लेख अपने पत्र में स्वतन्त्रतया करना आवश्यक नहीं समझा होगा. जो श्रीबालकृष्णजी का स्वरूप श्रीयमुनाजी में प्रकट हुआ था वह तो राणा व्यास को पधराया गया था जो सो बहुत बाद में पुनः गोस्वामिगृह में पधारा होगा.

जहां तक ठोरकी छीनाझपटी की लीला का प्रसंग है तो वह तो श्रीप्रभुचरण की अतिबाल्यावस्था में ही सम्भव होने से वह सेवा में विराजते स्वरूप के बारे में न होकर क्रीडा में ही विराजते, श्रीबालकृष्णजी के स्वरूप के बारे में, होना चाहिये. अतः श्रीमहाप्रभु द्वारा पुष्ट भी नहीं किया गया होगा.

यों विभिन्न आख्यायिकाओं में प्रयुक्त श्रीबालकृष्ण नाम के साम्यवश कल्पित तथा यथार्थतया अनवगत इतिवृत्त जब तक सप्रमाण इदमित्थतया प्रकट नहीं किया जाता तब तक तक षष्ठनिधित्व का निर्धारण श्रीबालकृष्णजी (सूरतस्थ) के बारे में दुष्कर है.

किसी भी सूरत में न तो बाबा वेणु, न श्रीरामदास मुखिया, न दामोदरदास हरसवाले, न राणाव्यास और न श्रीप्रभुचरण को ही कभी षष्ठनिधिपद की दावेदार इन अनेक निधिओं की सेवा के कारण षष्ठपीठाधीश माने जाने का उल्लेख श्रीमदाचार्यचरण के इतिवृत्त से प्रकट हो पाता है.

अतएव न केवल षष्ठनिधि अपितु किसी भी निधिस्वरूप में स्वरूपभावनाभेदेन लीलाभेद, लीलाभेदेन स्वरूपभेद, तथा स्वरूपभेदेन तत्तत्स्वरूपासक्त भक्तमात्र के लिये तो माहात्म्यभेद सम्भव है. अन्यथा किसी भी स्वरूप में भक्तभावनिरपेक्ष माहात्म्य में भेद या तारतम्य की कोई सैद्धान्तिक संगति दृष्टिगत होती नहीं है. स्वसेवया पीठाधीशताधायक माहात्म्य की कल्पना भी प्राचीन ग्रन्थों में कहीं दिखलाई नहीं देती, व्यवहार या सिद्धान्त की कथा तो दूरापास्त है. ऐसी स्थिति में प्रमुख अष्ट निधि स्वरूपों की सेवा के अधिकार के कारण इतर वल्लभवंशज सजातीय बन्धुओं से इन निधिओं के सेवाकर्ताओं में असाधारण पीठाधीशता की कल्पना सर्वथा निर्मूल है.

इस तरह कंठोक्त या श्रुत हेतुका अभाव तो सर्वथा स्पष्ट ही है. फिर भी इतर स्वरूपों की तुलना में इन सात या आठ स्वरूपों के वैशिष्ट्य के अनुमापक लिंग क्या हो सकते हैं, यह भी प्रसंगोपात्त विचारणीय है –

(१) श्रीमदाचार्यचरण अथवा श्रीमत्प्रभुचरण के गृह में एक सिंहासन पर विराजमान होकर एक साथ भोग आरोगना, क्या कोई सुसंगत हेतु है ? नहीं !

क्योंकि आज ये उस तरह विजरामान नहीं हैं. अतः इन विधि स्वरूपों को वैसी पीठाधीशताधायक महत्ता भी भूतकाल का विषय बन जायेगी.

यदि भूतकाल में एक बार भी विराजे हों तो वह महत्ता आज तक कायम रहती है, ऐसा माना जाये, तो श्रीनटवरलालजी भी एक सिंहासन पर विराजकर एक साथ भोग आरोगते थे ऐसा उल्लेख कहीं श्रीकाकाबल्लभजी के वचनामृत मिलता होने से उनमें क्यों यह महत्ता स्वीकारी नहीं जाती ? उनकी सेवा करनेवाले को भी क्यों पीठाधीश माना नहीं जाता है ?

(२) श्रीशोभा बेटी जी को एक श्रीबालकृष्णलाल ("मूल नामयुक्त होने से सर्व लीलानुस्यूत–मधुरेश !") स्वरूप पधराने का उल्लेख मिलता है. श्रीकमलाबेटीजी को तो सिंहासन पर एक साथ विराजकर आरोगने वाले श्रीनवनीतप्रिय (द्वितीय) तथा श्रीदेवकी श्रीयमुना बेटीजी को श्रीमदनमोहनजी के स्वरूप पधराये गये थे. फिर उनकी सेवा करने वालों को आज पीठाधीश क्यों नहीं माना जाता ?

क्या वे बेटीजी थी इसलिये उन्हें पधराये गये भगवत्स्वरूप में यह महत्ता नहीं स्वीकारी जा सकती ? तो स्पष्टीकरण करना पड़ेगा कि केवल पुत्रों को बंटवारे में जो स्वरूप प्राप्त हुवे, उन्हीं स्वरूपों के भीतर यह महत्ता आहित होती है क्या ? ऐसी स्थिति में श्रीनाथजी–श्रीनवनीतप्रियाजी जो बंटवारे में पुत्रों को पधराये नहीं गये थे उनकी सेवा करनेवाले में भी पीठाधीशता ही नहीं आयेगी, तो प्रधानपीठाधीशता तो दूरापास्त है !

यदि कहा जाये कि बंटवारे में नहीं पधराये गये परन्तु श्रीप्रभुचरण की आसुरव्यामोहलीला के बाद तो पधारे ही थे. क्योंकि ये दो स्वरूप भी श्रीगिरधरजी के मांथे पधारे, इसलिये

श्रीमहाप्रभु की भावना से सेव्य श्रीनाथजी तथा श्रीप्रभुचरण की भावना से सेव्य श्रीनवनीतप्रियाजी के कारण प्रधानपीठाधीशता आ जाती है. तो क्यों यह एक ही प्रधान पीठाधीशता आती है क्यों दो या तीन प्रधान पीठाधीशता नहीं ? स्वाभाविकतया दो या तीन सेव्य स्वरूपों के कारण आती प्रधान पीठाधीशता भी दो या तीन ही होंगी ! ऐसा परन्तु कभी सुना नहीं गया. दूसरे इन्हीं स्वरूपों के साथ विराजते अच्युततदास के श्रीमदनमोहनजी तथा रामदासके श्रीमुकुन्दरायजी भी बंटवारे के समय श्रीगिरधजी के माथे न सही परन्तु बाद में तो श्रीनाथ जी के साथ पधारे ही थे, अतः इनमें भी प्रधानपीठाधीशताधायक माहात्म्य स्वीकारना चाहिये. इसके अलावा तब प्रथम पीठाधीशता श्रीप्रभुचरण द्वारा प्रस्थापित मानी जायेगी परन्तु प्रधानपीठाधीशता नहीं. क्योंकि वह तो श्रीगिरधरजी के बंटवारे में पृथक हुई है. अतः गौण बन जायेगी. अर्थात् प्रधानपीठाधीश प्रथमपीठाधीश से निम्न कक्षा के सिद्ध होंगे.

(३) जैसी इन स्वरूपों की विशेष-विशेष स्वरूप भावनायें परवर्ती गोस्वामिमहानुभावों द्वारा प्रतिपादित हुई हैं, वैसी अन्य निधि स्वरूपों की नहीं. अर्थात् अन्य निधि स्वरूपों को इन्हीं सात आठ या नौ निधिस्वरूपों का प्रतिनिधि स्वरूप माना गया है. अतः इन सात आठ या नौ निधिओं में तो स्वसेवया पीठाधीशताधायक माहात्म्य स्वीकारना चाहिये किन्तु एतदतिरिक्त स्वरूपों में नहीं.

यह भी हेतु सुसंगत नहीं है क्योंकि सर्वप्रथम तो उक्त स्वरूपभावनायें श्रीमदाचार्यवचन या श्रीमत्प्रभुचरणवचन में उपलब्ध नहीं होती. परवर्ती गोस्वामिमहानुभावों द्वारा निरूपित स्वरूपभावना के कारण यदि पीठाधीशताधायक माहात्म्य कतिपय स्वरूपों में स्वीकारा जाता है तो श्रीद्वारिकेशजी या श्रीयोगिगोपेश्वरजी ने जिन्हें गोद के या औत्संगिक स्वरूप माने हों उन्हें षष्ठनिधि माना नहीं जा सकेगा. स्पष्ट है कि उक्त हेतुवश न सूरतवाले श्रीबालकृष्णलालजी और न काशीवाले श्रीमुकुन्दरायजी को ही पीठाधीशताधायक माहात्म्य से युक्त स्वीकारा जा सकेगा. आचार्यचरण के ही सेव्य निधि स्वरूपों के बारे में आज भी कोई विशिष्ट स्वरूपभावना करे तो उस निधि स्वरूप में भी पीठाधीशताधायक माहात्म्य आहित होता है कि नहीं ? यदि होता है तब सम्प्रदार्य में प्रधानपीठतया सप्तपीठ की परिसंख्यातता रह नहीं जायेगी. यदि आहित नहीं होता तो श्रीमहाप्रभु –श्रीप्रभुचरण के बाद कितनी पीढी तक के गोस्वामिमहानुभावों द्वारा वर्णित स्वरूपभावना में यह सामर्थ्य स्वीकारनी कि उसके कारण श्रीमहाप्रभु के निधिस्वरूपों में असाधारण माहात्म्य आहित होता है ? क्या चौथी पीढ़ी तक ? तो आठवी पीढ़ी तक क्यों नहीं ! यदि आठमी पीढ़ी तक ! तो सोलहमी पीढ़ी तक क्यों नहीं ?

दूसरे गोद के स्वरूपों की भी स्वरूप भावनायें, भावनावारे श्रीद्वारकेशजी तथा रश्मिकार श्रीयोगिगोपेश्वरजी, ने दिखलायी है, अतः जहां-जहां गोद के स्वरूप विराजते हैं वहां-वहां एक पीठाधीश में दो-दो पीठाधीशता आयेंगी–गोद के स्वरूप तथा मुख्य स्वरूप के कारण, और बंटवारा होने पर सूरत के श्रीबालकृष्णजी की सेवा के कारण जैसे पीठाधीशता आती है वैसे ही श्रीनटवरलाल के कारण भी आनी चाहिये. यदि कहा जाये कि एक बार गोद में पधरा देने से वह सामर्थ्य तिरोहित हो जाती है तो श्रीनवनीतप्रियाजी में भी तिरोहित माननी पड़ेगी क्योंकि वे भी यदा-कदा श्रीनाथजीकी गोद में विराजते रहते हैं.

वैसे तो 'स्वरूपभावना' शब्द भी इसी तथ्य का प्रमाण है कि भक्तभावनिरपेक्षतया स्वरूप वैसा नहीं है किन्तु भक्त को इन स्वरूपों के बारे में ऐसी स्वरूपभावना करनी चाहिये (द्रष्टव्य: "भवितु: भवनानुकूलो भावक व्यापारविशेष: भावना", तथा "भावो भावनया सिद्ध:") स्वरूप तो आधिभौतिक दृष्टि से सिद्ध ही है तथा पुष्ट होते ही आधिदैविक दृष्टि से भी सिद्ध ही हैं अत: 'भविता' नहीं माना जा सकता. लीलानुभाव सिद्ध नहीं होने से यथायथ लीलानुभवदातृत्व ही 'भविता' बन सकता है जो भावना द्वारा साध्य है. उदाहरण तया झारीजी की स्वरूपभावना श्रीयमुनाजी या श्रीयशोदाजी की बताई गई है. एतावता सेवा में अप्रयुक्त होने पर या प्रयुक्त होने से पहले क्या नारीयल की छूछ एवं मृत्तिका से मांजी नहीं जा सकती ? भक्तभावनिरपेक्ष स्वरूप श्रीयशोदाजी या श्रीयमुनाजीका होता तो वह कथमपि सम्भव न था. भावनिरपेक्षस्वरूप झारी का एक जलपात्र होने का ही होता है और उसकी स्वरूपभावना यथावसर श्रीयमुनाजी या श्रीयशोदाजीकी की जाती है. इसी तरह भावनिरपेक्ष स्वरूप या तो बालरूप या किशोररूप होता है परन्तु ऐसे स्वरूपकी स्वरूपभावना एवं लीलाभावना विभिन्न प्रकार की हो सकती है. एतावता स्वरूपभावना का विषय भक्तनिरपेक्ष नहीं हो पायेगा. छप्पन भोग तथा श्रीनाथजी के पाटोत्सव के दिन भी भावनाजी जो पधराये जाते हैं वे तत्कालार्थ मात्र होते हैं. अतएव पश्चात् उनकी सेवा का क्रम कहीं दृष्टिगत नहीं होता. यह केवल स्वरूप के बारे में सम्भव नहीं.

(४) क्या सात बालकों के मुख्य सेव्य बनने से वह सामर्थ्य इन परिगणित निधिस्वरूपों में आहित हो जाती है ? नहीं !

क्योंकि तब वह केवल सप्तस्वरूप में ही स्वीकारनी पडेगी अर्थात श्रीनाथजी–श्रीनवनीतप्रियाजी में नहीं. यदि कहा जाये कि जब सात बालकों के मुख्य सेव्य बनने से सात स्वरूपों में विशेष सामर्थ्य का आधान हम स्वीकारते हैं तो श्रीप्रभुचरण के सेव्य श्रीनवनीतप्रियाजी तथा श्रीमहाप्रभु के सेव्य श्रीनाथजी में तो वह सामर्थ्य सुतरां स्वीकारनी ही पड़ेगी. परन्तु यह बात भी तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि यहां स्वीकृत हेतु का परित्याग हो रहा है. मुख्य सातों स्वरूप भी श्रीमहाप्रभु–श्रीप्रभुचरण के तो सेव्य हैं ही अत: सात बालकों के मुख्य सेव्य माने नहीं जा सकते. बंटवारे के बाद तो छह या सात की तरह अवशिष्ट दो स्वरूप भी श्रीगिरिधरजी तथा उनके भाईओं के संयुक्त परिवार को प्राप्त हुवे थे. इसलिये श्रीमहाप्रभु–श्रीप्रभुचरण के मुख्य सेव्य नहीं रह जायेंगे; और रहेंगे तो इन्हीं दो स्वरूपों की तरह अन्य छह-सात स्वरूप भी श्रीमहाप्रभु–श्रीप्रभुचरण के ही सेव्य रहेंगे. तब तो आठ या नौ या दस प्रधानपीठाधीश बन जायेंगे !

(५) क्या "अष्ट कृष्णा: भवन्ति" विधानवश कतिपय स्वरूपों के भीतर पीठाधीशत्वाधायक वैशिष्ट्य स्वीकारा जा सकता है ? नहीं !

क्योंकि सर्वप्रथम तो अष्ट स्वरूपों में किसकी गणना करनी और किसकी नहीं यह विवादास्पद विषय है. तथा उक्त सुबोधिनीवचन का तात्पर्य अष्टनिधिप्रामुख्यवाद तक खींचा जा सकता है कि नहीं इस विषय की चर्चा आगामी अधिकरण में होगी.

यदि भक्तभावनानिरपेक्ष वैशिष्ट्य इन स्वरूपों का श्रीमहाप्रभु को अभिमत या अवगत होता तो क्यों वे इन स्वरूपों की सेवा स्वयं ही न करके इन्हें अन्यों को सेवार्थ पधराते ? भावनासापेक्ष वैशिष्ट्य स्वीकारने पर वह श्रीमहाप्रभु तथा श्रीप्रभुचरण के ग्रन्थों में तो उपलब्ध होता नहीं, तथा परवर्ती गोस्वामिमहानुभावों ने भी स्वरूपभावनया तत्तत् स्वरूपों में लीलाभेद तो स्वीकारा है परन्तु पीठाधीशताद्यायक असाधारण माहात्म्य तो कहीं भी वर्णित नहीं किया है.

यह सचमुच में कितनी हास्यास्पद बात है कि श्रीमहाप्रभु द्वारा पुष्ट होने पर भी, सेवित होने पर भी, तत्तद् निज सेवकों को दिव्य सानुभाव प्रदान कराने पर भी, श्रीप्रभुचरण द्वारा पुन: सेवित होने पर भी जो माहात्म्य इन स्वरूपों में नहीं था वह अकस्मात् केवल सप्तात्मजों के बीच बंटवारे के कारण पैदा हो गया (!) कि इतने ही स्वरूप एक साथ या श्रीनाथजी के साथ विराज सकते हैं, क्यों अन्य स्वरूप इन स्वरूपों के साथ या श्रीनाथजी के साथ बिराज नहीं सकते ? जबकि श्रीकाकावल्लभजी के अनुसार इनके अन्नकूटोत्सव में एक साथ बिराजने पर दर्शनार्थ आगमन की भी श्रीप्रभुचरण ने तो निन्दा ही की थी–"यामें लौकिक बढ़ जायेगी और दूजे स्वरूप विषे लौकिक भाव बढ़ जायेगो" (वार्ता २०)

इससे सिद्ध होता है कि नौ या दस निधि स्वरूपों तथा अन्य स्वरूपों के बीच तारतम्य सोचना लौकिक भाव है, जिसकी श्रीमदाचार्यचरण ने "न लौकिक: प्रभु: कृष्णो मनुते नैव लौकिकम्" कह कर हमें चेतावनी दे रखी है. इसके बावजूद "बाधनं वा हरीच्छया" कल्पके अनुसार जो ये स्वरूप साथ बिराजे और तत्प्रयुक्त लौकिकता-प्रवाहिता जो वृद्धिगत हुई वह आज सभी स्वरूपों के साथ तृणावर्त की तरह उठा-पटक करना चाहती है. परन्तु उसे स्वीकारने की सैद्धान्तिक आवश्यकता नहीं है. वह आज्ञा तब हुई थी अत: तभी अनुसरणीय थी आज नहीं. जैसे निज शय्या पर साथ पोढाने की आज्ञा श्रीनवनीतप्रियाजी की तब श्रीमहाप्रभु को हुई थी, परन्तु आज उस "बाधनं वा हरीच्छया" को अनुसरने की कोई आवश्यकता नहीं है.

तब भी यह लौकिक भाव अन्यों के लिये तो अनुसरणीय नहीं था, यह "तब आप खीजी के गारी देय के कहीं जो श्रीठाकुरजी की सेवा छोडि के यहां आई हे सो कहा वहां श्रीठारकुरजी और हैं ? मैंने तो पहले ही कहीं हती जो यामें लौकिक बढ़ी जायेगी परन्तु श्रीनाथजी की इच्छा ऐसी है ताको में कहा करूं." (श्रीकाकावल्लभजी के वचनामृत २१). इससे सिद्ध होता है कि जब वह आज्ञा हुई थी तब भी वह केवल यह समझाने के लिये ही लीला की गई थी कि श्रीप्रभुचरण के विद्यमान रहते ऐसी प्रक्रिया से लौकिकता की वृद्धि शक्य है, तो उनके प्रकटतया विद्यमान न रहने पर, यह या ऐसे अन्य मनोरथ तथा स्वरूपों के बारे में ऐसा तारतम्यभाव कितना अनर्थकारी बन जायेगा ! फिर भी "कलिकालतमश्छन्नदृष्टिवैदुष्य" वश आज भी इन्ही भावों को उकसाया जा रहा है !

"पीछे बेटीजी अपने घर गई सो जाय के दर्शन करें तो श्रीनाथजी ओर सातों स्वरूप अपने घर में अन्नकूट आरोगत है" (उक्त वचनामृत २१) इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बेटीजी के यहां विराजते श्रीठाकुरजी, श्रीनाथजी से लेकर श्रीमदनमोहनजी पर्यन्त, किसी भी निधि

स्वरूप से ईषन्मात्र न्यून नहीं थे. अतः पुष्टिभाव-भावित कोई भी स्वरूप किसी भी अन्य स्वरूप से किसी भी अर्थ में न्यून नहीं हो सकता है, यह ध्रुवतया सिद्धान्तित हुआ.

अतः पूजारिपीठवाद या तो अपठित उपदेशकों की वाल्लभ सम्प्रदाय को अविचारित अशुभ देन है या कलिकालतमश्छन्नदृष्टिवैदुष्यका यह निजाचार्य–निजसम्प्रदाय निजभाव-भावित स्वरूप के साथ अक्षम्य द्रोह है (१।१).

सूत्र

"अष्ट कृष्णाः भवन्ति" (सुबो. १०।३०।३) **वचन के आधार पर भी अष्टनिधि-प्रामुख्य सिद्ध नहीं होता, वाक्यतात्पर्यविषयीभूत होने से तथा किन स्वरूपों को अष्टान्तर्गत मानना इसके बारे में भी अनिर्णय होने से** (१।२)

भाष्य

पूर्वाधिकरण द्वारा यह सिद्ध हुवा कि पीठाधीशत्वव्यवस्था सैद्धान्तिक न होकर केवल व्यावहारिक है. वस्तुतः मूलाचार्यों द्वारा प्रवर्तित प्रणालिका न होकर यह परवर्ती काल में कभी पनपी प्रणालिका है. वस्तुतः इसका विचार श्रुतिकल्प प्रकरण में होना ही नहीं चाहिये था. फिर भी जिन आचार्यवचनों में इसका उत्स खोजा जाता है उसका विचार भी प्रारम्भ में कर लेना उचित होगा.

प्रस्तुत अधिकरण में विषय वाक्य सूत्रोल्लिखित सुबोधिनीवचन है.

संशय यहां यह होता है कि भावनावारे श्रीद्वारकेशजी (वि. सं. १७५१) विरचित 'भावभावना,' (जिसे श्रीयोगिगोपेश्वर जी इनके पुत्र श्रीगोविंदजी (वि. सं. १७८२) द्वारा विरचित मानते हैं) नामक ग्रन्थ में आठ मुख्य स्वरूपों को धर्मिरूप तथा गोद के छह स्वरूपों की अन्य स्वरूपों की तुलना में कुछ विशिष्ट स्वरूप भावनायें समझायी हैं–"पुष्टि हू फलरूप है तातें फलप्रकरण में 'षोडश गोपिकानां मध्ये अष्ट कृष्णाः भवन्ति' या ते अष्ट स्वरूप को ध्यान आवश्यक है स्वरूपभावनाते." यद्यपि श्रीमदाचार्यचरणानुक्त अर्थ में यह आचार्यवाक्य तात्पर्य का योजन है, फिर भी मूलाचार्यवचनानवगत तदविरुद्ध वचन का प्रामाण्य तो स्वीकृत ही है. अतः सुबोधिनीवचन तथा भावभावनावचन की परस्पर एक वाक्यता साधने पर इतर स्वरूपापेक्षया आठ निधि स्वरूपों की असामान्य विशिष्टता स्वीकारनी ही पड़ेगी. स्वाभाविक-तया ऐसे प्रमुख निधि स्वरूपों की सेवा में कुछ अनिर्वचनीय प्रामुख्य भी स्वीकारना पड़ेगा. उस प्रमुख सेवा का जिनको अधिकार हो ऐसे गोस्वामिमहानुभावों में भी अतएव इतर बन्धुओं की तुलना में कुछ प्रमुखता अर्थात् पीठाधीशता भी पृष्ठलग्न सिद्ध हो जायेगी या नहीं ?

पूजारिपीठवाद का पूर्वपक्ष यहां यही है कि यद्यपि उल्लिखित सुबोधिनीस्थ वचन में विवक्षित सेव्य स्वरूपों के बारे में कोई भी संकेत नहीं है फिर भी श्रीहरिरायजी (वि. सं. १६४७) उनके बहुजी श्रीशोभाबहुजी (वि.सं.) इसी तरह श्रीकाकावल्लभजी (श्रीयदुनाथ सुत (प्रथम/५) वि. सं. १७९३ / द्वारिकेशसुत (प्रथम ।२) वि. सं. १८२९ / विट्ठलेश

सुत (प्रथम/४) वि.सं. १८६७ ? कौनसे पता नहीं चलता) * आदि परवर्ती गोस्वामि-महानुभावों ने इन स्वरूपों का असाधारण वैशिष्ट्य स्वीकारा है. अतः अन्य सभी स्वरूप या तो धर्मरूप हैं या प्रतिनिधिरूप हैं. अतः इन आठ मूलभूत धर्मिस्वरूपों की सेवा करनेवालों में धर्मिरूप पीठाधीशता आती है तथा अन्य आचार्यवंशजों में धर्म रूप साधारण गुरुत्व ही आता है. "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः नहि सन्देहाद् अलक्षणं शास्त्रम्" न्याय के अनुसार "अष्ट कृष्णाः भवन्ति" वाक्य में इन आठ निधिस्वरूपों की विवक्षा है या नहीं इसके केवल सन्दिग्ध होने से "नहीं है" ऐसा माना नहीं जा सकता. क्योंकि परवर्ती वचनामृतकारों को स्वीकृत अष्टनिधिप्राधान्यवाद के आधार पर उक्त सुबोधिनीवचन के विशेष विवक्षितार्थ का बोध अन्यथा सम्भव नहीं.

आचार्यपीठवाद का उत्तरपक्ष यहां यह है कि इस तरह का तात्पर्यवर्णन न तो श्रीप्रभु चरण ने टिप्पणीजी में किया है और न श्रीपुरुषोत्तमजी, श्रीवल्लभजी, श्रीलालुभट्टजी अथवा श्रीपुरुषोत्तमजी के शिष्य श्रीतुलजारामजी ने ही किया है.

सुबोधिनी : अष्टकृष्णाः भवन्ति

दूसरे इस सन्दर्भ में प्रयुक्त सम्पूर्ण शब्दावली को एक बार दृष्टिगत कर लेना अधिक श्रेयस्कर होगा.

"तस्य भगवतः तासु सन्निवेशप्रकारम् आह 'तासां मध्ये द्वयोः द्वयोः' इति. मण्डली कृताः यावत्यः गोप्यः तासां द्वयं-द्वयं भिन्नतया भावनीयम्. द्वित्वद्वयस्य न एकाधिकरणता भाव्या. अतः मण्डलमध्ये यत्र हस्तद्वयग्रन्थि तत्र भगवदुदरं यथा भवति तथा भगवान् उत्थितः जातः. तथा उद्गतस्य उभयत्र सम्बन्धम् आह द्वयोर्द्वयोः मध्ये प्रविष्टेन भगवता कण्ठे गृहीतानामिति हस्तद्वयेन पार्श्वस्थितयोः कण्ठे ग्रहणम्. एवं षोडशगोपिकानाम् अष्ट कृष्णाः भवन्ति. अन्यथा रसाभासः स्यात् कृष्णद्वैविध्यप्रतीतेः. इममेव अर्थम् आह 'स्वनिकटे स्त्रियः यं मन्येरन्' इति. स्वस्यैव निकटे नतु अन्यासां, स्वसम्मुखस्थितगोपिका-कण्ठालिंगित भगवद्दर्शनमपि भगवदिच्छया तासां न जायत इति. प्रयोजनार्थं हि रूपकरणं तद् अर्धसंख्य यैव प्रयोजनं भवतीति न समसंख्या मृग्या. 'यावतिर्गोपयोषितः' इति अग्रे समसंख्या भगवतः वक्ष्यति, यत् पुनः कैश्चिद् उक्तम् 'अंगनामंगनामन्तरे माधवः" इति तत्रापि सविसर्गः पाठः ज्ञेयः द्विवचने बहुवचनप्रयोगश्च. अन्यदेव वा तन्मण्डलं न भागवतोक्तं मध्ये वेणुनादस्य उक्तत्वात्. अत्रतु रसार्थे नृत्यमिति. गानार्थम् अपेक्षायामपि देवैरेव तत्सिद्धिः. 'मध्ये मणीनां हैमानाम्' इत्यत्र तु दर्शनार्थम् उक्तत्वाद् गोपिकानां देवानां च दर्शनं तथैवेति न अनुपपन्नं किञ्चित्" (सुबो. १०।३०।३–४).

---

* वचनामृत ४२, ४७ तथा ४० में क्रमशः वि. सं. १८६२, ६५ तथा १८९२ तक विराजने के कारण ये प्रसिद्ध काका वल्लभजी नहीं है. वि. सं. १८६२ चैत्र द्वादशी के वचनामृत ४१ में "हमारे बडे श्रीवल्लभजी महाराज हम सों चोथी पीढी तिनकी वार्ता . . . " ये चोथी पीढी ऊपर के संभवतः प्रसिद्ध काका वल्लभजी है.

इस विस्तृत उद्धरण के अवलोकन से अनेक बातें स्पष्ट हो जाती हैं कि श्रीमहाप्रभु के अनुसार–

(क) रास प्रकरण में केवल आठ ही रूप नहीं किन्तु नृत्य के समय कम से कम आठ हजार रूपों में श्रीकृष्ण प्रकट हुवे तथा जलादिविहार में तो सोलह हजार रूप भी श्रीकृष्ण के एकसाथ प्रकट हुवे हैं.

ऐसी स्थिति में इस वाक्य को निधि स्वरूपों की विवक्षावाला स्वीकारने पर कम से कम आठ हजार पीठाधीशताधायक माहात्म्ययुक्त निधिस्वरूप और उतने ही प्रमुख पीठाधीश भी मानने चाहिये. अन्यथा वैसे ही इन सोलह हजार निधि स्वरूपों तथा पीठाधीशों को भी पुष्टिमार्ग में फलात्मकतया ही मान्य करना पड़ेगा.

(ख) रासलीला में सोलह-सोलह गोपिकाओं के यूथ में आठ-आठ कृष्ण हैं.

इससे सिद्ध होता है कि एक-एक पीठनिधि के सेवाकर्ता दो-दो पीठाधीश होने चाहिये.

(ग) प्रत्येक गोपिका श्रीकृष्ण को अपने ही निकट अनुभव कर रही थी दूसरे के निकट नहीं. यहां तक कि एक गोपिका को अपने सम्मुख स्थित दूसरी गोपिका के कण्ठ में गलबांहीं देनेवाले भगवान के तो दर्शन भी नहीं हुवे.

इससे सिद्ध होता है कि गोपिका स्थानापन्न पीठाधीशों को भी अपने सेव्य के अलावा दूसरे सेव्य की चिन्ता ही नहीं करनी चाहिये. तब लौकिकता (उस समय, परन्तु आज तो प्रावाहिकता) की ही वृद्धि करनेवाले आठ स्वरूपों में कौन श्रीनाथजी के साथ बिराज सकता है और कौन नहीं इस बात की चर्चा भी करनी ही नहीं चाहिये. स्वनिकट जो हो उसे प्रथम-प्रधान-परम निधिमान कर सेवा करनी चाहिये. तब अकस्मात् षष्ठनिधि की गणना दूसरी निधिओं को लौकिक बुद्धि से निहारे बिना सम्भव ही नहीं. लौकिक बुद्धि से निहारने पर तो भगवान का भावात्मक स्वरूप भी लौकिक जड़ मूर्ति बन जायेगा. जिसे "अष्ट कृष्णा: भवन्ति" वाक्य का विषय माना नहीं जा सकता है.

(घ) भगवान् जितने भी रूप प्रकट करते हैं वे सभी प्रयोजनवश हैं. अत: सोलह-सोलह गोपिकाओं के अनेक यूथों में आठ-आठ जो रूप प्रकट किये उसका प्रयोजन यही था कि मण्डलाकार नृत्य में किसी भी गोपिका को दूसरे कृष्ण की अनुभूति नहीं होनी चाहिये. अन्यथा रसाभास हो जायेगा. यहां आठ-आठ स्वरूपों के प्राकट्य से इस प्रयोजन की पूर्ति हो जाने के कारण अधिक रूप प्रकट नहीं हुवे. अन्यथा जलादिविहार में तो प्रत्येक गोपिका के लिये एक स्वतन्त्र तथा पृथक रूप भगवान ने अपना प्रकट किया ही था सर्वथा तारम्यविहीन.

इससे सिद्ध हो जाता है कि यदि एक सेवाकर्ता हो तो एक निधिस्वरूप होना चाहिये और सात सेवाकर्ता हों तो सात निधि स्वरूप हो सकते हैं. इसी तरह श्रीप्रभुचरण के परिवार में एक वे स्वयं, सात औरस पुत्र, आठवें धर्मपुत्र; एवं दो अग्रज की तथा चार स्वयं की बेटीजी इस तरह कुल मिलाकर पंदरह सेवाकर्ता हों तो पंदरह स्वरूप भी "प्रयोजनार्थं ही रूपकरणम्" न्याय से क्यों प्रमुख निधिस्वरूप नहीं हो सकते ? क्या केवल "अष्ट कृष्णा: भवन्ति" विधान का ही महत्त्व है ? क्यों श्रीमहाप्रभु के भी "प्रयोजनार्थं हि रूपकरणम्" वचन की कोई महत्ता नहीं ?

(ङ) जलविहारादि की लीला में प्रत्येक गोपिका को स्वकीय भाव के अनुसार भगवद्रूप की अनुभूति हुई थी ।

इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक पुष्टि जीव के घर में विराजमान प्रत्येक पुष्टिप्रभु साक्षात् पुरुषोत्तम रूप ही हैं. जैसे "अष्ट कृष्णा: भवन्ति" विधान श्रीमहाप्रभुकृत है वैसे ही "यावती-र्गोपयोषित: इत्यग्रे समसंख्यां भगवतो वक्ष्यति" भी श्रीमहाप्रभु के ही वचन हैं अन्य किसी के नहीं.

(च) रास में नृत्य के समय मध्य में अवस्थित होने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी, न वेणुवादनार्थ और न गानार्थ ही. 'मध्यमणि'न्यायेन मण्डल मध्यस्थिति श्रीमहाप्रभु के अनुसार भागवतोक्त नृत्य प्रकार नहीं है. फिर भी वैसे दर्शन उस लीला के अनधिकारी वेद-ताओं को हुए थे वह एक दूसरी कथा है.

इससे सिद्ध होता है कि श्रीनाथजी को अष्ट निधिस्वरूपों के मण्डल के मध्य में अवस्थित मानना अपनी भागवतातत्त्वज्ञता प्रकट करनी है. अत: भागवत के अतत्त्वज्ञ अथवा केवल अभागवत के तत्त्वज्ञ होने पर सामान्य गुरुत्व ही सिद्ध नहीं हो पायेगा तो पीठाधीशता की दिल्ली तो अभी बहुत दूरी पर स्थित है. यह निश्चयेन कहा जा सकता है.

सबसे मजेदार बात यहाँ यह है कि "अष्ट कृष्णा: भवन्ति" वचन के आधार पर आठ ही मुख्य निधिस्वरूप अपने सम्प्रदाय में हैं ऐसा प्रचार करने पर तथाकथित षष्ठनिधि स्वरूप में या तो षष्ठत्व दुर्निरूप्य हो जायेगा या फिर तथाकथित षष्ठनिधि का अन्तर्भाव अष्टनिधि स्वरूपों में करने पर श्रीनाथजी एवं श्रीनवनीतप्रियाजी में से एक किसी स्वरूप का श्रीमद्-भागवत वर्णित सारस्वतकल्पीय रासलीला के मण्डल में से बहिर्निष्कासन करना पड़ेगा. या फिर उन्हें प्रचलित संख्याक्रम में अष्टमनिधि स्वरूप मानना पड़ेगा ।

वास्तविकता, जबकि, यह है कि "अष्ट कृष्णा: भवन्ति" वचन का यथेष्ट तात्पर्य पर्यन्त अर्थाकर्षण करने पर भी केवल आठ निधि स्वरूप ही सिद्ध होते हैं. इन आठ निधि स्वरूपों में प्रथमत्व द्वितीयत्व तृतीयत्व चतुर्थत्व पञ्चमत्व षष्ठत्व सप्तमत्व और अष्टमत्व तो केवल पूजारिपीठवाद का ही उपद्रव है, भागवत-सुबोधिनीभावार्थ नहीं.

न केवल इतना अपितु इस सुबोधिनी की सम्पूर्ण शब्दावली में केवल इन आठ कृष्ण रूपों की ही मुख्यता अथवा फलरूपता है; तथा गोपीसमसंख्याक श्रीकृष्णरूपों की गौणता या धर्मरूपता है ऐसा कहीं–किसी भी प्रकृति-प्रत्यय से प्रकट नहीं होता. अत: यह भी एक भयंकर बात पूजारिपीठवाद के विपक्ष में जाती है.

इस सैद्धान्तिक स्पष्टता के बावजूद सुबोधिनीजी के नित्याभ्यासी प्रात: स्मरणीय श्री गोविन्दरायजी के विद्याभ्यासी आत्मज चि. श्री वल्लभरायजी ने, प्रतीत होता है सब कुछ जानते हुवे भी, केवल पूजारिपीठवाद के मोहवश तथा भविष्य में कभी अपने पर कुछ आरोप न आ जाये ऐसी लज्जा-भीतिवश स्वविरचित श्रीबालकृष्णाष्टक का भावतात्पर्य 'श्रीबिपिन-बिहारीदास' नाम से प्रकाशित करवाया है. वहां किये गये अनर्गल विधान अवलोकनीय हैं–

"आम नवे निधिस्वरूपों मां परस्पर कई पण तारतम्य नथी सौ सर्वोपरि छे छतां 'स एव कृष्णपदार्थ: क्वचिद् विवृत:' ए भावात्मक श्रीकृष्णनु प्रकट भावन श्रीबालकृष्णजी ना स्वरूप

मां अनुस्यूत होवा थी (अर्थात् वह श्रीनाथजी में भी अनुस्यूत नही !) श्रीबालकृष्ण तेमज श्रीमहाप्रभुजी द्वारा पोताना मुख्य सेव्य तरीके स्थापित सर्वोपरि प्रधानता ने (अर्थात् श्री बालकृष्णजी का स्वरूप सारस्वत कल्पीय सर्व भागवत लीला में अनुस्यूत तथा श्रीनाथजी का स्वरूप श्रीमहाप्रभु के केवल स्वयं के मुख्य सेव्यतया स्थापित होने के कारण) आधारे श्रीगोवर्धननाथजी आम बे स्वरूपोनी अनेरी विलक्षणता छे. रासमण्डलमां श्रीमहाप्रभुजी ए 'अष्टौ कृष्णाः' नी भावना दर्शावी छे. तेमां आठ स्वरूपो पैकी नुं एक श्रीबालकृष्णजो नुं स्वरूप छे, घणा लोको (अर्थात् भावनावारे श्रीद्वारकेशजी और स्वयं सूरत के घर से द्वितीय घर में गोद पधारनेवाले श्रीयोगिगोपेश्वरजी) श्रीसुबोधिनीना सिद्धांत (जबकि सुबोधिनीकार स्पष्ट शब्दों में मण्डलमध्य स्थिति को अभागवतोक्त कहते हैं तो भी) समज्या वगर मण्डलना आठ स्वरूपों पैकी श्रीनाथजीनु एक स्वरूप गणी बेसे छे, परन्तु ते उचित (!?) नथी. श्रीमहाप्रभुजीए राधाशमोदरवत् नृत्यम् ए भावना समजावी (कहां ?) छे. आ भावना अनुसार श्रीनाथजीनुं भावना तो मुख्यतया मण्डलनो मध्यमां छे. श्रीनाथजी ने मण्डलमां ज गणी देवा थी मण्डलनुं मध्यनुं स्थान खाली पडी जाय जे श्रीमहाप्रभुजी ने सम्मत (!?) नथी तेथी मण्डलनी मध्यमा श्रीनाथजी छे. तेज प्रमाणे 'क्वाक ज वृष्णित' विलक्षण 'श्रीकृष्ण' तत्त्व श्री बालकृष्णजी मां अनुस्यूत होवा थी मण्डलना अष्ट स्वरूपों मां श्रीबालकृष्णजी मण्डलमां सौथी आगल (मानो चञ्चल अलौकिक रासनृत्यमण्डल होने के बजाय लौकिक सामग्री प्रदर्शनोत्सवका कोई अचल मण्डल न हो !) सम्मुख वच्चोवच्च दर्शन आपे छे." (से. से. र. पृष्ठ १३).

स्पष्ट है कि यह दर्शन निष्ठाविहीन पूजारिपीठवादिओं को ही होता है आचार्यवचनों में निष्ठाशील आचार्यपीठवादिओं को नहीं.

हो सकता है कि "सुबोधिनीचिन्तन तत्पर सुबोधिनीभावमर्मज्ञ सुबोधिनीसुधादान दक्ष" प्रातःस्मरणीय श्रीगोविन्दरायजी के विद्वान आत्मज चिरञ्जीवी श्रीवल्लभरायजी ने यह भावतात्पर्य न भी लिखा हो परन्तु प्रकाशित करवाने से पहले इन ऊपर कही गई बातों को लक्ष्य में लेना चाहिये था. कांकरोली काशी बड़ोदा के घरों के साथ जो भी प्रतिस्पर्धा हो रखो ! परन्तु श्रीगोवर्धनधर को अभागवतोक्त तथा भागवतीय लीलाओं में अननुस्यूत दिखाना और फिर उन्हीं स्वरूप के पास षष्ठ निधितया अपने सेव्य स्वरूप की मान्यता के लिये ऐसे मिथ्या स्तोत्र तथा नामावलियां घड़ना–"ततः श्लाघ्यपदं कांक्षन् तमेवं हन्तुमुत्सकः" जैसी कृतघ्नता भरी मनोवृत्ति है. यदि 'बालकृष्ण' नाम के कारण इतनी सारी महत्ता अपने सेव्य स्वरूप में सिद्ध करनी हो तो खयाल रखना चाहिये कि श्रीमहाप्रभु श्रीप्रभुचरण के सेव्य बीस-इक्कीस 'श्रीबालकृष्ण' नामवाले सभी सेव्य स्वरूपों में ये सारी विशिष्टतायें सिद्ध हो जायेंगी. फिर व्यर्थ में श्रीनाथजी के साथ प्रतिस्पर्धा कर के लाभ क्या होगा ? क्या षष्ठपीठाधीशता को मौन स्वीकृति मिल गई तो अब प्रधान पीठाधीशता के दावे के बीज बोये जा रहे हैं !

इस तरह "अष्ट कृष्णाः भवन्ति" वाक्य के तात्पर्य के अविषयीभूत होने के कारण पूजारिपीठवाद की अप्रामाणिकता सिद्ध हुई. अब सूत्रोक्त द्वितीय "किन स्वरूपों को अष्टान्तर्गत मानना इसके भी अनिर्णीत होने से" हेतु की व्याख्या हमें करनी है.

"अष्ट कृष्णाः भवन्ति" वाक्य के भावभावनाकार वर्णित तात्पर्य के आधार पर आठ निधिस्वरूपों को प्रमुख मानने पर भी अविच्छिन्न परम्परा से मुख्य आठ स्वरूप कौन से थे यह कह पाना बहुत कठिन है.

श्रीप्रभुचरण लिखित पत्र

जिस श्रीप्रभुचरण के पत्र का हवाला दिया जाता है उसमें स्वरूपों के नाम उस क्रम से नहीं मिलते हैं जो क्रम सूरत से प्रकाशित "षष्ठनिधिस्वरूप श्रीबालकृष्णजी (सूरत) का चरितामृत" नामक ग्रन्थ में दिया गया है. इस ग्रन्थ में पृष्ठ ६–७ तथा पृष्ठ २०–२१ पर क्रम यों दिया गया लगता है–

(०) श्रीगोवर्धननाथजी	(१) श्रीनवनीतप्रियाजी
(२) श्रीमथुरेशजी	(३) श्रीविठ्ठलनाथजी
(४) श्रीद्वारिकाधीशजी	(५) श्रीगोकुलनाथजी
(६) श्रीगोकुलचन्द्रमाजी	(७) श्रीबालकृष्णजी
(८) श्रीमदनमोहनजी	

इसके विपरीत अपने अग्रज को लिखे पत्र में श्रीप्रभुचरण जिस क्रम से सेव्य स्वरूपों को वन्दन कर रहे हैं वह क्रम यों है –

(१) श्रीनवनीतप्रियाजी	(२) श्रीमथुरानाथजी
(३) श्रीद्वारकानाथजी	(४) श्रीगोवर्धनधर (श्रीगोकुलनाथजी)
(५) श्रीविठ्ठलनाथजी	(६) श्रीमदनमोहनजी
(७) श्रीगोवर्धनधर (?)	(८) श्रीनवनीतप्रियाजी (द्वितीय)

यह पत्र बहुत वर्षों पहले "पुष्टिभक्ति सुधा" (वर्ष ४ अंक ५–६ में) नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था, उस पत्र के सम्बद्धांश को एक बार मूलरूपेण दृष्टिगत कर लें तब आगे विचार करेंगे.

श्रीविठ्ठलेश्वराणां पत्राणि (६)

श्रीनवनीतप्रिय–मथुरानाथ–द्वारकानाथ–गोवर्धनधर–विठ्ठलेश्वर–मदनमोहन–गोवर्धनधर – नवनीतप्रियचरणारविन्देषु अनुचरस्य प्रणतयः निवेदननीयाः

.... अहं भगवदाज्ञया रासोत्सवपर्यन्तं श्रीगोवर्धनधरणचरणारविन्दनिकटे स्थितः अस्मि. हरिद्वारं प्रति आज्ञा न जातेति न गतम्. अत्र मम अस्वास्थ्यं बहु जातम् आसीद्. उपवासदशकं कृतम्. अधुना भगवत्कृपया श्रीमत्कृपया च नैरुज्यं जातम् अस्ति. कापि चिन्ता न कार्या. अक्का-अम्मा-अत्ताचरणेषु नतयः ...."

प्रकृत चर्चा में उपयोगी सभी अंश इस पत्र के यहां हमने दे दिये हैं. सम्पूर्ण पत्र उक्त पत्रिका में से देखा जा सकता है. जो तथ्य इसके अवलोकन करने पर प्रकट होते हैं वे ये हैं–

(१) यह पत्र श्रीमहाप्रभु की आसुरव्यामोहलीला के बाद कम से कम श्रीप्रभुचरण की उस वय में लिखा गया पत्र है कि जब उनको एकाकितया अडैल से दूर जतिपुरा विराजने तथा हरिद्वारादि स्थानों की यात्रा की अनुमति अपने परिवार-वृद्धों से मिलने लग गई थी. न्यून में न्यून इसे आचार्यचरण की आसुरव्यामोहलीला (वि. सं. १५८७) के बाद केवल एक

वर्ष के भीतर की अवधि में भी लिखा गया पत्र माने तो भी वि. सं. १५८८ के आसपास (जिस वर्ष प्रबोधिनी के बाद कभी श्रीप्रभुचरण का विवाह हुआ था) का माना जा सकता है.

(२) पत्र में उल्लिखित तथ्यों के विमर्श से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रीगोपीनाथ प्रभुचरण अडैल में विराज रहे हैं तथा यह पत्र श्रीविट्ठलनाथ प्रभु चरण ने जतिपुरा से लिखा है.

(३) अडैल में निजगृह स्थित सेव्य स्वरूप आठ अवश्य हैं परन्तु न तो अधुना प्रचलित प्रथमादि क्रम इन स्वरूपों में निर्धारित हुआ है क्योंकि श्रीविट्ठलनाथजी का नाम चार स्वरूपों के बाद गिनाया है. और न अधुना प्रसिद्ध आठों-आठ स्वरूपों का इन आठ स्वरूपों में अन्तर्भाव दिखलाई देता है. 'श्रीगोवर्धनधर' तथा 'श्रीनवनीतप्रिय' नामक कोई दो स्वरूप और अधिक हैं. जिन्हें आज प्रमुखनिधि गिना नहीं जाता है. श्रीबालकृष्णजी का तो इस पत्र में कहीं नामोल्लेख ही नहीं है. न श्रीमुकुन्दरायजी अथवा श्रीकल्याणरायजी का भी. न इस पत्र में अन्य भी गोद के श्रीनटवरलाल आदि स्वरूपों का कोई उल्लेख है.

(४) अडैल में बिराजते इन आठ स्वरूपों के अलावा जतिपुरा में बिराजता श्रीगोवर्धनधरण स्वरूप पृथक है.' 'मध्यमणि' न्याय के तो अभागवतोक्त सिद्ध हो जाने पर जतिपुरा स्थित श्रीगोवर्धनधरण की मण्डलमध्यस्थिति सम्भव नहीं और अष्टके अन्तर्गत परिगणन करने पर पत्र में उल्लिखित आठ स्वरूप में से किसी एक स्वरूप का "निजगृह स्थित सेवा में एक सिंहासन पर बिराज कर अरोगने" के बावजूद अष्ट बहिर्भाव स्वीकारना पड़ेगा.

मुरलीधरदासरचित आचार्यचरित्र

इसके विपरीत श्रीप्रभुचरण के शिष्य श्रीमुरलीधरदास कहते हैं–

"गोकुले सेवामार्गप्रवर्तकाचार्यवर्यगृहे नित्यदा स्वपूजायां नवनीतप्रियो विठ्ठलेश्वरो मथुरानाथो नटवरो गोकुलचन्द्रमा द्वारकानाथो मदनमोहनः श्रीगोवर्धननाथः च इति अष्टौ मूर्तयः स्नेहपूर्वकं पूजिताः" (श्रीवल्लभाचार्यचरितं मुरलीधरदासविरचितं पृष्ठ २१)

इसमें न तो प्रथमादिक्रम है, और न अष्टस्वरूपों के परिगणित नामों में अधुना प्रसिद्ध क्रम ही. पत्र में अनुल्लिखित श्रीनटवरलाल अब यहां सिंहासन पर बिराजने लगे है तथा पत्र में उल्लिखित दो स्वरूप अन्यत्र कहीं सेवार्थ पधरा दिये गये हैं.

निजवार्ता

निजवार्ता के अनुसार भी श्रीमहाप्रभु के अडैलग्रामस्थ गृह में आठ स्वरूप नहीं प्रत्युत केवल पांच स्वरूप ही सेवा में बिराजते थे, जिनमें सूरतवाले श्रीबालकृष्णजी का नाम सर्वथा अनुल्लिखित है. यहां स्थानाभाववश हम केवल सम्बद्धांश दे रहे हैं–

"सो श्रीगोवर्धननाथजी आज्ञा दीनी है जो एक ठौर आप बिराजो. सो श्रीआचार्यजी महाप्रभु यह श्रीगोवर्धननाथजी की आज्ञा मन में निर्धार करिके आप यह विचारे जो कहूँ स्वतंतर वास करनो जापे काहूकी सत्ता न होई. तब श्रीआचार्यजी महाप्रभु कासीतें श्रीमहालक्ष्मीजीकों लैके आप अडेलकों पधारे सो उहां स्थल करिके आप बिराजे ... और श्री आचार्यजी महाप्रभु आप भगवत्सेवा करें. सो श्रीमदनमोहनजी तो अपने बडेन के ठाकुर हैं, श्रीआचार्यजी महाप्रभून के माता श्रीइलम्मागारूजी दक्षिण ते पधराय लाई हैं, सो और

श्रीगोकुलनाथजी, श्रीआचार्यजी महाप्रभूनके सासुरे ते पधारे ... ऐसी रीति सो श्रीआचार्यजी महाप्रभू अडैल में वास करिके सेवा करत हैं ... ॥ वार्ता दशमी ॥ ... अब सेव्य स्वरूप तीनि भये श्रीगोकुलनाथजी श्रीमदनमोहनजी श्रीविट्ठलनाथजी. अब एक समें श्रीआचार्यजी महाप्रभू व्रज में पांउ धारे, सो श्रीगोकुल में विराजत हते और श्रीनवनीतप्रियाजी मज्जन धावन के घर आगरे में बिराजत हुते. सो श्रीनवनीतप्रियाजी श्रीआचार्यजी महाप्रभून के मन की जानी. कहा जानी जो श्री आचार्यजी महाप्रभून ने यह विचारे जो सब स्वरूपन के अधिनायक तो श्रीनवनीतप्रियाजी हैं. (तुलना करो "अभिमतया मूर्त्या प्रकारसहस्रमध्ये नवनीतचौर्यादिरूपेषु स्व-भावः नियामकः" सुबो. ११।३।४८). सो श्री नवनीतप्रियाजी पधारें तो आछो ... अब श्रीआचार्यजी महाप्रभून के घर चारि स्वरूप बिराजे श्रीनवनीतप्रियाजी श्रीविट्ठलनाथजी श्रीगोकुलनाथजी श्रीमदनमोहनजी .... तब श्रीद्वारिकानाथजी नाव में बिराजिके अडेल में श्रीआचार्यजी महाप्रभून के घर पधारे. अब सिंघासन पर स्वरूप पांच बिराजत है–श्रीनवनीतप्रियाजी श्रीविट्ठलनाथजी श्रीद्वारिकानाथजी श्रीगोकुलनाथजी श्रीमदनमोहनजी ये पांचों स्वरूप सिंघासन पर बिराजत है. इति." (निजवार्ता १०-११).

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि या तो श्रीमहाप्रभु के काल में श्रीप्रभुचरण की बाल्यावस्था में क्रीडार्थ पधराये श्रीबालकृष्णलाल के स्वरूप को श्रीमहाप्रभुने पुष्ट ही नहीं किया था, अन्यथा सेवा में बिरजवाते ही, या फिर वे श्रीद्वारकानाथजी के प्रतिनिधि स्वरूप होने से उनका स्वतंत्र उल्लेख नहीं मिलता है.

श्रीयदुनाथजीकृत श्रीवल्लभदिग्विजय

चिरञ्जीवी गोस्वामी श्रीवल्लभरायजी ने पूजारिपीठवाद के मोहवश श्रीयदुनाथजी के अनेक मिथ्या नाम तो धर लिये है यथा "श्रीबालकृष्णसर्वस्वः .... बालकृष्णैकहृदयो बालकृष्णैकलोचनः बालकृष्णैकेष्टदेवो बाललीलाविभावनः" (सेव्य सेवक रसास्वादान्तर्गत नामकामधेनुस्तोत्र श्लो. ४, २२ तथा २३), परन्तु श्रीयदुनाथजीविरचित श्रीवल्लभ दिग्विजय के अवलोकन करने पर यह नामावली की कामधेनु पूजारिपीठवादिओं की प्रथम कामना कि श्रीबालकृष्णजी श्रीमहाप्रभुसेवित षष्ठनिधि हैं तथा परम कामना कि इनकी सेवा के कारण स्वयं के परिवार में षष्ठपीठाधीशता निहित है, यों इन दोनोंमें से एक भी कामना को पूर्ण करती प्रतीत नहीं होती ! यहां हम सम्बद्ध ग्रन्थांशों को उद्धृत करते हैं–

"... श्वसुरे संन्यस्य गते ... (१) **ततो जाता श्रीगोकुलेश्वरप्राप्तिः** ... ततः श्री वधूजिता एकदा आर्याः प्रार्थिताः, श्रीमद्भिः श्रीगोकुलेशाविर्भावाय तदर्चनाय आचार्यैः उपदिष्टा तत्कुर्वन्ती पुनः एकदा आह 'श्रीगोकुलेशो (२) **मदनमोहनश्च** यां हसति जिह्वेति **तत्र** कारणं ब्रूथ. आर्या आहुः 'जातः ते मनोरथः.. प्रादुर्भावः अचिराद भविष्यति' इति ... **गोस्वामि** श्रीविट्ठलनाथानां प्रादुर्भावः समभवत (३) **तस्मिन् समये श्रीविट्ठलनाथस्वरूपमपि आगतम्** ... अथ पुनः व्रजयात्रा कृता. ततः गर्जनधावनेन (४) **नवनीतप्रियानयनं कृतम्** ... ततः (५) **श्रीद्वारिकेशागमनं जातम्**ः ततो गोपीनाथ यात्रा तेषां दक्षिणे विवाहोपि **पितृव्य** जनार्दनेन कारितः ..." (श्री वल्लभादिग्विजय पृष्ठ ५०-५३).

स्पष्ट है कि मिथ्या नामावली की कामधेनु से मिथ्या कामना की पूर्ति करवानी हो तो जैसे राजनगरवाले श्रीरणछोडलालजी महाराज के वचनामृत का "विरुद्धांशपरित्यागात् प्रमाणं सर्वमेवहि !" संस्करण नूतनतया मुद्रित करवाया है वैसे ही श्रीवल्लभदिग्विजय को भी एक नूतनतया मुद्रित संस्करण की आवश्यकता है. किसी भी सूरत में वि. सं. २०४१ से फाल्गुन शुक्ला एकादशी के (द्रष्टव्यः पृष्ठ) दिन तक तो "श्रीबालकृष्णैकेष्टदेव" श्रीयदुनाथजी न तो हीं निजग्रंथ में श्रीमहाप्रभु के सेव्यतया और न ग्रन्थारम्भ या ग्रन्थान्त में कहीं निजाराध्य इष्टदेवतया सूरतस्थित श्रीबालकृष्णप्रभु का वन्दन या स्मरण करते हैं :

श्रीहरिरायजीरचित श्लोक

वि. सं. २०३२ में प्रकाशित "षष्ठविधि स्वरूप श्रीबालकृष्णजी (सूरत) का चरितामृत" नामक ग्रन्थ में (पृष्ठ २७-२९) "गो. श्रीहरिरायकृत सेवाविधिः" शीर्षक से एक परिच्छेद दिया गया है जिसमें–

यदुनाथमहं वन्दे बालकृष्णपदाश्रयम् ।
रुक्मिणीहृदयानन्ददायकं भक्तवत्सलम् ।।

तथा

नमामि श्रीबालकृष्णं यशोदोत्संगलालितम् ।
पूतनासुपयःपानरक्षिताशेषबालकम् ।।

दो कारिकायें श्रीबालकृष्णजी के श्रीयदुनाथ सेव्यतया षष्ठनिधि होने के समर्थनार्थ दी हैं.

हमारे पास वि. सं. १९९८ में प्रकाशित श्रीहरिरायकृत साहस्रीभावना के परिशिष्ट में पृष्ठ (११८-१२३) श्रीमत्प्रभुचरण–श्रीहरिधनप्रभुप्रणोदिता सेवाशिक्षा में तो इन श्लोकों का अस्तित्व कहीं दृष्टिगत नहीं होता. और न श्रीहरिरायवाङ्मुक्तावली में ही ये श्लोक पहले कभी किसी ने मुद्रित कराये हैं. किम् अधिकं सुज्ञेषु ?

श्रीशोभाबहुजीरचित घोल

उल्लिखित चरितामृत में ही पृष्ठ तीस पर "घोल" शीर्षक के साथ श्रीहरिराय जी के बहुजी श्रीशोभाजी के घोल की "श्री जदुपति जी जुगते जोवा जेवा-जी, एमने मन्दिरे श्री-बालकृष्णनी सुन्दर सेवा जी" पंक्ति प्रकाशित की गई है.

सुरत के ही घर से साठ-सित्तर वर्ष पूर्व प्रकाशित इन श्रीशोभाबहुजी के घोल की पुस्तक में एक यह गरबी और मिलती है जिसे कभी भी भूलना नहीं चाहिये–

जोडी हाथ ने कहे छे जदुनाथ जी रे लोल
मन वस्या छे हमारे तो श्रीनाथजी रे लोल,
कृपाऽनुग्रह थी श्री आप पधरावीआ रे लोल
त्यारे प्रसन्न थई ने तात मन घणु रे लोल
स्वरूप पधराव्युं श्रीकल्याणराय तणु रे लोल,

अतः जैसी श्रीशोभाबहुजी की वह घोल है वैसी ही यह उनकी गरबी भी है ही.

श्रीव्रजभूषणजीरचित श्लोक

"श्रीव्रजभूषणजी कृत श्रीगुसांईजी के सहस्र नाम में" शीर्षक के साथ एक परिच्छेद पृष्ठ (१५–१७) तक दिया है, इसमें दी गई कुछ कारिकायें यों उद्धृत हुई हैं–

यदुनाथपिता पुष्टिज्ञानदाता दयानिधिः
यदुनाथस्नेहवेत्ता स्वस्नेहानुभवप्रदः
प्रिय श्रीयदुनाथस्तद्भक्तिवेत्ता प्रमोदकृत्
तस्य स्नेहेन सन्तुष्टः श्रीबालकृष्णदायकः ।

एक अन्य गोस्वामि-महानुभाव, जो इस विवाद में उलझना नहीं चाहते, इसलिये उनका नाम हम नहीं दे पाते किन्तु उनके पास श्रीव्रजभूषणजीकृत श्रीगुसांईजी के सहस्रनामकी वि. सं. १८७० की हस्तलिखित प्रति है. इस प्रति में "तस्य स्नेहेन सन्तुष्टः श्रीकल्याणप्रदायकः" पाठ उपलब्ध होता है. तथा "लघुस्वरूपास्वीकर्त्रे महाराजाभिधप्रदः" उल्लेख भी वहां स्पष्ट है ऐसा उनका कहना है.

इन सारी बातों का गम्भीरतया विमर्श करने पर ऐसा लगता है कि कृपासिन्धु श्री विट्ठलनाथ प्रभुचरण ने अप्रसन्न होकर नहीं किन्तु उपहास में ही श्रीयदुनाथजी का नाम 'महाराजा' रखा होगा. इसी की पुष्टि "प्रिय श्री यदुनाथ स्तद्भक्तिवेत्ता प्रमोदकृत् तस्य स्नेहेन सन्तुष्टः श्रीकल्याणप्रदायकः" नाम की संगति बैठ जाती है. दोनों में से कौन सा पाठ प्रामाणिक है यह मूल प्रति को, अतएव, देखे बिना निसन्दिग्धतया स्वीकारना कठिन काम है.

श्रीवल्लभजी के वचनामृत

जहां तक श्रीवल्लभजी के वचनामृत का प्रश्न उठता है तो यह तो सच है कि उनके अनुसार सूरतस्थ श्रीबालकृष्णलालजी श्रीद्वारिकाधीशजी के गोद के ठाकुर नहीं हैं. परन्तु उनके पूरे वचनामृत बहुधा उद्धृत किये नहीं जाते हैं. सम्भवतः राजनगरवाले श्रीरणछोडलालजी के वचनामृत का जैसे "विरुद्धांशपरित्यागात् प्रमाणं सर्वमेव हि" संस्करण प्रकाशित हुआ ऐसे ही निकट भविष्य में इनके वचनामृत का नूतन संस्करण भी प्रकाशित हो सकता है. अतः हम आज ही उस वचनामृत के सम्बद्ध अंश को उद्धृत कर देते हैं–

"श्रीगुसांई जी के सात स्वरूप ठाकुर अरु श्रीबालकृष्णजी श्रीनटवरलालजी ये सब सेव्य स्वरूप श्रीआचार्यजी तथा श्रीगुसांईजी के सेव्य हैं. श्रीगुसांईजी के घर हु एक सिंघासन पर विराजत हते और भोग-सेवा सब भेली होती. इतने में न्यूनाधिक स्वरूप कोई नहीं. पाछे सब श्रीठाकुरजी तो बेटान को पधराय दीने. श्रीनवनीतप्रियाजी आपु सेवा में राखे और श्रीबालकृष्णजी तथा श्रीनटवरलालजी हू आपके श्रीनवनीतप्रियाजी के पास रहे और श्रीबालकृष्णजी कूं छठे लालजी श्रीयदुनाथजी कू पधराय देते हते सो न लीने और कह्यो जो छोटे ठाकुरजी कू कहा करूं ? तब श्रीगुसांईजी आज्ञा दीनी जो ए तो बडे महाराज जी हैं ! श्रीठाकुरजी को कहा बडो कहा छोटो ? तब उनको नाम ता दिनाते श्रीमहाराजजी भयो. और श्रीबालकृष्णजी श्रीगुसांईजी के घर ही बिराजे. और श्रीनाथजी काहू के ऊपर पधराये नहीं. श्रीनाथजी सब के ठाकुर हैं. ऐसे आज्ञा कीनी.

और श्रीबालकृष्णजी तथा श्रीनटवरलालजी गोद के ठाकुर कैसे बाजत है ? ताकी आज्ञा कीनी–

जो पहले तो कितनेक दिना जुदे-जुदे अन्नकूट आप-आपके घर होतो सो घर सेवाते पहोंचिके श्रीनाथजी के दर्शन को आवते. श्रीनाथजी की सेवा में तो पहोंचते नहीं तब श्रीबालकृष्णजी–श्रीनटवरजी श्रीनवनीतप्रियाजी के पास बिराजते, श्रीगुसांईजी के तीन स्वरूप अन्नकूट भेलो आरोगते. ऐसे कितनेक बरसताई चल्यो, पीछे एक बरस श्रीगिरधरजी ने श्री गुसांईजी सूं बिनती कीनी जो सबहि स्वरूप श्रीनाथजी के यहां पधारें और और भेलो अन्नकूट आरोगे तो बहोत सुख होय. तब श्रीगुसांईजी ने एक बार तो नांही कीनी तब दूसरी बखत फेरी बिनंती कीनी तब श्रीगुसांईजी के चित्त में आई जो श्रीगिरधरजी ने दूसरी बार फेरी कह्यो ताते श्रीनाथजी की इच्छा ऐसी दीसत है परन्तु यामे लौकिक बढि जायेगी. तब श्री गुसांईजी ने श्रीनाथजी सों पूछी और विनंती कीनी जो महाराज ! **यामें लौकिक बढि जायेगी और दूजे स्वरूप विषे लौकिक भाव बढि जायेगो,** तब श्रीनाथजी ने आज्ञा कीनी जो हमारी इच्छा है. सो श्रीनाथजी की ऐसी इच्छा जानी के सातों स्वरूप श्रीजी के यहां पधराये.

सो श्रीठाकुरजी के स्वरूप तो नव और श्रीगुसांई जी के सात बालक सो ता भाव सों 'सातों स्वरूप' कहत हैं.

तब श्रीनवनीतप्रियाजी प्रभृति दूजें स्वरूप तो झांपी में पधराये और श्रीमथुरेशजी श्रीद्वारिकानाथजी ए तो बडे स्वरूप हैं सो झांपी में कैसे पधराये जाये ! तब श्रीगुसांई जी ने आज्ञा कीनी जो पालकी में पधराओ तब दोउ स्वरूप पालकी में पधराये. **तब सातों स्वरूपन को ऐसी रीतसों पधरायवेकों अपने-अपने घरते तैयारी कीनी. तब श्रीबालकृष्णजी–श्रीनटवरलालजी रहे तिनकू कौन जुदे पधरावे और श्रीनवनीतप्रियाजी झांपीमें तीन स्वरूप कैसे बिराजे** तब श्रीनटवलारलजी श्रीमथुरेशजी की पालकी में पधराये और श्रीबालकृष्णजी श्रीद्वारिकानाथजी की पालकी में पधरायें ताने 'गोद के ठाकुर' कहत हैं परन्तु गोद के हैं नहीं, **जैसे सात स्वरूप तैसेई ये स्वरूप हैं.** इन स्वरूपन में भिन्नभाव नहीं है. ऐसे सब स्वरूप श्रीगुसांईजी के घर एक सिंहासन उपर बिराज के भोग आरोगवेवारे हैं. ऐसे आज्ञा कीनी. श्रीनाथजी सबनके हैं परन्तु हुकुम सरकार और टीकायत श्रीगिरधरजी तिनके हाथ भई. श्रीनवनीतप्रियाजी श्रीगुसांईजी के ठाकुर हैं सोहु श्रीगिरधरजी के माथे बिराजे, श्रीमथुरेशजी. श्रीनटवरलाल पहले श्रीगुसांईजी ने ही पधराय हते. ऐसे तीन ठाकुर घर के और पधराए चोथे श्रीनाथजी सरकार टीकायत श्रीगिरधरजी के मांथे बिराजे. पीछे श्रीमथुरेशजी श्रीनटवरलालजी जूदे पधारे तिनकी वार्ता जुदी है. इति श्रीवल्लभजी महाराज के बीसमों वचनामृत सम्पूर्णम् ।।

इस वचनामृत से कई बात बिलकुल साफ हो जाती हैं यथा–

(१) श्रीगुसांईजी के घर के ठाकुरजी में से कुछ श्रीबेटीजी के यहां पधारे यथा श्रीप्रभुचरण–लिखित पूर्वोक्त पत्र में उल्लिखित श्रीनवनीतप्रियाजी (द्वितीय). क्योंकि उनका उल्लेख यहां नहीं किया गया है. यहां उल्लिखित श्रीनटवरलालजी पत्र में अनुल्लिखित होने पर भी श्रीमुरलीधरदासजी के श्रीवल्लभाचार्यचरितम् में उल्लिखित हैं. निज

वार्ता–श्रीवल्लभदिग्विजय में उल्लिखित पांच स्वरूपों के बाद श्रीमथुरानाथजी तथा श्री गोकुलचन्द्रमाजी श्रीमहाप्रभु की आसुर-व्यामोह लीला के बाद घर में पधारे. इसे तरह पांच और दो सात स्वरूप हुवे. परन्तु यहां उल्लेखनीय यह है कि श्रीबालकृष्णजी तथा श्रीनटवरलालजी या तो पत्रलेखनकाल में घर में नहीं बिराजते थे अथवा बिराजते होंगे तो पुष्ट किये हुवे स्वरूप नहीं होंगे. ऐसी स्थिति में हो सकता है कि श्रीबालकृष्णलाल जी तथा श्रीनटवरलालजी श्रीमहाप्रभुजी के पुष्ट किये हुवे निधिस्वरूप न हों किन्तु श्रीप्रभुचरण के पुष्ट किये हुवे निधिस्वरूप हों. यह " (क) श्री गुसांई जी के सात स्वरूप ठाकुर और (ख) श्रीबालकृष्णजी श्रीनटवरलालजी ये सब सेव्य स्वरूप (क) श्रीआचार्यजी तथा (ख) श्रीगुसांई जी के सेव्य हैं "यथा संख्यामनुदेशः समानाम्" न्यायके अनुसार सिद्ध हो जाता है.

स्वरूप चाहे श्रीगुसांईजी द्वारा पुष्ट किये गये हों या श्रीआचार्यजी द्वारा इनमें भिन्नभाव नहीं रखना चाहिये, यह नितान्त अवधेय है. यही बात "स्वरूप में छोटो और बड़ो कहा" द्वारा प्रभुचरण ने समझाई थी.

(२) श्रीबालकृष्णजी के स्वरूप को सेवार्थ श्रीयदुनाथजी ने न तो स्वीकारा और न सेवा ही की थी. अन्यथा श्रीनवनीतप्रियाजी के पास विराजे रहने और "इन्हें कौन पधराये" इसका प्रश्न ही उठ नहीं सकता.

(३) निज सुतों को सेवार्थ पधराये गये स्वरूपों को ही केवल श्रीनाथजी के साथ अन्नकूट आरोगाने पधराना और अन्य स्वरूपों को नहीं, भविष्य में अन्य स्वरूपों को अनधिकारी मान लेने के लौकिक भाव में विकृत हो जायेगा, यह अच्छी तरह ध्यान में रख कर ही श्रीप्रभुचरण ने अनामंत्रित श्रीनवनीतप्रियाजी–श्रीनटवरलालजी–श्रीबालकृष्णजी को भी पधराया था तथा श्रीबेटीजी को सप्तस्वरूप के दर्शन किये बिना अपने ठाकुर को सर्वस्व मानने की सलाह देकर घर लौट जाने की आज्ञा दी थी.

(४) 'सात स्वरूप' जो कहें जाते हैं वे स्वरूपापेक्षया प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठ-सप्तम नहीं किन्तु श्रीप्रभुचरण के सप्त-सुतापेक्षया हैं. इससे सिद्ध हुआ कि निधिस्वरूप की प्रथमादि संख्या के कारण घर या पीठ की प्रथमादि संख्या नहीं है प्रत्युत घर की प्रथमादि संख्या के कारण निधिस्वरूपों की प्रथमादि संख्या है. अन्यथा घर में बिराजती नवम निधि तथा दशमनिधि श्रीनवनीतप्रियाजी तथा श्रीनाथजी को मानना पड़ेगा. श्री मथुरेशजी में श्रीगिरधरजी के कारण प्रथम निधित्व संख्या आयी थी. श्रीनाथजी, श्रीनवनीतप्रियाजी या श्रीमथुराधीश के कारण श्रीगिरधरजी में प्रथमत्व नहीं आया था, वह तो जन्मना सिद्ध था ही. बाद में बंटवारा होने पर श्रीगिरधरजी के स्वतंत्र दायभागवश श्री गोपीनाथजी के माथे श्रीमथुरेशजी पधराये गये अतएव श्रीगोपीनाथजी का घर और घर के निधिस्वरूप 'प्रथम' कहें जाते हैं. अन्यथा तो प्रथमत्व श्रीनाथजी या श्रीनवनीतप्रियाजी में कहा जाना चाहिये था. मूल बंटवारा में एक भाग श्रीप्रभुचरण का तथा सात भाग सप्त सुतों का था. अतएव आठ भाग हुवे थे. अन्यथा निधिस्वरूप (श्रीनाथजी को न भी गिने तो भी) नौ थे. ऐसी स्थिति में निधिस्वरूपमूलक पीठाधीशताकी बात सिद्ध ही नहीं हो पाती. अन्यथा

नौ पीठ होनी चाहिये थी–सात या आठ नहीं. गोस्वामितिलकायित महाराजश्री के घर को 'प्रधान पीठ' इसीलिये कहा जाता है बंटवारे में पृथक् हुआ वह श्रीप्रभुचरण का गृह है. यदि निधिस्वरूपवश पीठत्व या पीठाधीशत्व होता तो श्रीनाथजी पर तो सभी का स्वत्व तथा सेवाधिकार समान था ऐसी स्थिति में आठों के आठ घर प्रधानपीठाधीश के होने चाहिये थे; क्योंकि केवल श्रीगिरिधरजी का ही स्वत्व वहां नहीं था. उन्हें तो व्यवस्थाधिकार ही केवल सौंपा गया था, ज्येष्ठतम बन्धु होने के कारण.

(५) "तब श्रीनटवरलालजी श्रीमथुराधीशजी की पालकी में पधराये और श्री बालकृष्णजी श्रीद्वारकानाथजी की पालकी में पधराये ताते गोदके ठाकुर कहत हैं परन्तु गोद के हैं नहीं. **जैसे सात स्वरूप तेसेई ये स्वरूप हैं"** का सीधा सादा अर्थ यह होता है कि श्री नटवरलालजी की तरह श्रीबालकृष्णजी का भी सप्त स्वरूपों में अन्तर्भाव नहीं है और न अष्ट स्वरूपों में भी क्योंकि सप्त में (१) श्रीनवनीतप्रियाजी (२) श्रीमथुरेशजी (३) श्री विठ्ठलनाथजी (४) श्रीद्वारकाधीशजी (५) श्रीगोकुलनाथजी (६) श्रीगोकुल-चन्द्रमाजी तथा (७) श्रीमदनमोहनजी के अलावा आठ में श्रीनाथजी ही माने गये हैं, श्री नटवरलालजी या बालकृष्णजी नहीं, वे तो दस मुख्य स्वरूपों में 'नवमनिधि' तथा 'दशम-निधि' कही जा सकती हैं, यदि सिद्धान्तविहीन निधिस्वरूप की गणना करनी ही हो तो. हम कह चुके हैं कि निधिस्वरूपों में 'एक-दो-तीन-चार-पाच-छह-सात-आठ-नौ-दस आदि क्रम से गणना दोषावह नहीं है. परन्तु प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठ-सप्तम-अष्टम-नवम-दशम क्रम से गणना निश्चित ही लौकिक भाव है पूजारिपीठवादिओं द्वारा प्रचारित.

श्रीरमणजीकृत सेव्यस्वरूपदर्पण

इसी तरह पुष्टिमार्गीय सेव्यस्वरूपदर्पणकार श्रीरमणलालजी महाराज भी सुस्पष्ट शब्दों में यदुनाथजी के सेव्यस्वरूप श्रीकल्याणरायजी को ही स्वीकारते हैं–"श्री ठाकुरजी को नाम आपने श्रीकल्याणरायजी राख्यो. . . . सो इन तीनोन के श्रीठाकुरजी बड़े श्रीयदुनाथजी महाराज के मांथे विराजत हैं." (श्रीपुष्टिमार्गीय सेव्य स्वरूप दर्पण पृष्ठ १७).

श्रीद्वारिकेशजीकृत मूलपुरुष तथा भावभावना

पूजारिपीठवाद का मोह क्या क्या उधम नहीं करवाता है! मूलपुरुष–भावभावनाकार श्रीद्वारकेशजी (वि. सं. १७५१) ने सुस्पष्टतया 'मधुरेश' विशेषण अपने सेव्य श्रीगोकुल-चन्द्रमाजी के लिये वापरा है फिर भी मूलपुरुष का पाठ करनेवाली जनता को दिग्भ्रान्त करने के लिये आज उसे सूरतस्थ श्रीबालकृष्णजी के विशेषण के रूप में प्रचारित किया जा रहा (द्रष्टव्य से. से. र. पृ. १०८).

श्रीगिरिवरधर [१] छैल छबीलो श्रीनवनीतप्रिय [२] अखीलो प्रिय श्रीमथुरेश [३] श्रीविठ्ठलेश [४], श्रीद्वारिकेश जू [५] श्रीगोवर्धनधर [६] श्रीगोकुलचन्द्रमा [७] मधुरेश जू [*] श्रीमदनमोहन [८] अष्ट इहि विधि रमण श्रीविट्ठलनाथ के।

* यहां 'मधुरेश' के बजाय 'श्रीमधुरेश' पाठ छाप दिया जाता है जो भ्रामक है छन्दो भंग दोष भी पैदा होता है.

तात को चित जानि सेवा विस्तरी सब साथ के ।।

यहां अष्ट संख्या निर्धारित होने से 'मधुरेश' नाम अष्टातिरिक्त किसी स्वरूप का तो हो ही नहीं सकता. इसके अलावा भावभावना में "अथ श्रीगोकुलचन्द्रमाजी को स्वरूप" शीर्षक के साथ सुस्पष्ट शब्दों में खुलासा दिया है–"और श्रीमधुराष्टक को हू प्राकट्य या ही समय के स्वरूप को है . . . तातें **मधुराधिपति** हू यही स्वरूप जानिये" (भावभावना पृष्ठ ३१). बात यहां खतम नहीं होती! श्रीद्वारकेशजी आगे चलकर यह खुलासा और देते हैं–"यह अष्ट स्वरूप को निरूपण कियो. यह आठों स्वरूप धर्मी जानिये, और गोद के छ स्वरूप हैं . . . सो शकटभंजनलीला है. तीन महिना के भये तब औत्थानिक लीला है यह लीला श्रीद्वारकानाथ जी के पास के ठाकुर श्रीबालकृष्णजी हैं तहां यह लीला प्रकट है और लीला गुप्त हैं" (भाव-भावना पृष्ठ ३३). साथ ही साथ श्रीयदुनाथजी ने श्रीबालकृष्णजी नहीं पधराये तथा इनका अष्ट स्वरूपों में अन्तर्भाव नहीं है, यह भी श्रीद्वारिकेशजी ने स्वीकारा है–बावजूद इस स्पष्टी-करण के मूलपुरुष में श्रीगोकुलचन्द्रमाजी के लिये प्रयुक्त 'मधुरेश' विशेषण को चुपचाप 'श्री बालकृष्ण' नाम के साथ जोड देने के प्रयास में कुटिल प्रयोजन साफ-साफ झलकता है: "स्वप्रेष्ठं मधुरेशं श्रीबालकृष्णप्रभुं सेवते (से. से. र. पृष्ठ १०८)

चतुर्भुजदासकृत षड्ऋतुवार्ता

श्रीयदुनाथभावनिकाकार पृष्ठ ११ पर चत्रभुजदास की षट् ऋतु की वार्ता के अभि-प्रेतांश तो उद्धृत करते हैं परन्तु अष्ट स्वरूप में वहां–

(१) श्रीजी (२) श्रीमथुरेशजी (३) श्रीविठ्ठलेशरायजी (४) श्रीद्वारिकानाथजी (५) श्रीगोकुलनाथजी (६) श्रीगोकुलचन्द्रमाजी (७) श्रीनवनीतप्रियजी (८) श्रीमदन-मोहनजी इतने ही स्वरूप गिनायें हैं यह बात छुपा ली है, पूजारिपीठवाद के बचाव के लिये!

राजनगरवाले श्रीरणछोडलालजी के वचनामृत

सब से बचकाना तथा हास्यास्पद गैर जिम्मेदाराना काम हाल ही में किया है. श्रीरण-छोडलालजी महाराज के वचनामृत कि जिसे श्रीवल्लभग्रन्थ प्रकाशन (सूरत) द्वारा हाल ही में वि. सं. २०४३ श्रीमहाप्रभूत्सव के दिन पुनर्मुद्रित करके प्रकाशित किया गया है. इस संस्करण में वि. सं. २०२७ के संस्करण की तरह बराबर २७४ पृष्ठ हैं. उल्लेखनीय है कि इन दोनों संस्करणों के प्रत्येक पृष्ठ के ऊपर के तथा नीचे के पंक्ति–पद सब कुछ इकसार हैं, फिर भी, पृष्ठ २६–२७ के आसपास "(५) निधि स्वरूपों" शीर्षक के नीचे ६२-६३-६४ वचना-मृत जिसमें श्रीरणछोडलालजी महाराज ने स्पष्टतया श्रीयदुनाथजी ने श्रीबालकृष्णजी स्वीकारे नहीं थे तथा **"जे घर छे ते बालक थी छे. श्रीठाकुरजी थी नहीं."** यह आचार्यपीठ-मान्य विधान किया है वह सब उड़ा दिया गया है. सौभाग्य से दोनों संस्करणों के उपलब्ध होने से पूजारिपीठवादियों की नैतिकता तथा बौद्धिक साहस का स्तर कितना नीचे गिर गया है, यह जांचा जा सकता है. अपने मिथ्या एवं क्षुद्र अहं की तुष्टि के लिये "बुभुक्षितः किं न करोति पापम्" उक्ति को चरितार्थ करते हुए अन्य भी ऐतिहासिक–प्रामाणिक दस्तावेजों के साथ ऐसा खिलवाड नहीं किया होगा, ऐसा मानने का कोई कारण अब रह नहीं जाता.

एतावता यह सिद्ध हुआ कि सेव्य स्वरूप के सेवाधिकार से पीठाधीशता नहीं आत परन्तु शास्त्रीय या लौकिक विधिवशात् दायभाग में किसी गृह पर उत्तराधिकार प्राप्त हो पर, वह गृह यदि सम्प्रदाय की प्रमुख आठ पीठों में एक हो तो, तभी वहां पीठाधीशता प्राप्त होती है. अन्यथा नहीं. पूजारिपीठवाद आधुनिक देवद्रव्यादी सिद्धान्तद्रोही व्यक्तिओं अकाण्डताण्डव हैं, जो निश्चित ही सारे सम्प्रदाय को गर्त में धकेलने का एक दुर्भाग्यपू षड्यंत्र है. दुःख की बात यही है कि इसमें केवल अपठित गोस्वामी ही नहीं अपितु अधी निष्ठाविहीन विद्वान महानुभाव यह नग्न ताण्डव कर रहे हैं.

इस तरह न केवल श्रीमदाचार्यचरण–प्रभुचरण के वचनों के, अपितु परवर्ती व्याख्या वार्ता-वचनामृत-कारों के वचनों का भी, तटस्थवृत्ति से विमर्श करने पर पूजारिपीठवाद क अप्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है.

अन्त में एक और शंका का समाधान देकर इस अधिकरण को समाप्त करेंगे.

शंका : निजवार्ता के अनुसार श्रीनवनीतप्रियाजी के स्वरूप को श्रीमहाप्रभु ने भी स स्वरूपों का अधिनायक माना है तो क्या वह लौकिक भाव नहीं ?

समाधान : वाल्लभ सम्प्रदाय के किसी भी विषय में "इत्थंवानित्थम्" का आधार हमा निर्मूल उत्प्रेक्षा बन नहीं सकती–अतएव ग्रन्थारम्भ में ही हमने स्पष्टीकरण दे दिया था कि श्रीमहाप्रभु तथा श्रीप्रभुचरण के वचन हमारे लिये श्रुतिकल्प प्रमाण हैं. यद्यपि निजवार्ता स्वयं श्रीमहाप्रभुविरचित नहीं–श्रीगोकुलनाथजी अथवा श्रीहरिरायजी विरचित मानी जाती है, तथापि श्रीहरिरायजी प्रभृति महानुभावों के वचन भी "तदनवगतत्वे सति तदविरुद्धत्वा प्रमाणम्" न्याय से हमें शिरोधार्य होने ही चाहिये. अतः हम मानकर चलते है कि श्रीमहाप्र के मनोभाववश श्रीनवनीतप्रियाजी सर्व स्वरूपों के अधिनायक हैं. वैसे तो यह प्रचलि मान्यता, कि श्रीनाथजी अधिनायक–धर्मी–मूलस्वरूप–दशविधलीलानुस्यूत–स्वरूप हैं, विपरीत तो नहीं परन्तु भिन्न है. फिर भी "अणोरणीयान् महतो महीयान्" वचनसिद्ध विरु धर्माश्रयता की तरह या 'स्वार्थ-यज्ञार्थ-हिंसाभेद', न्याय से श्रीमदाचार्यचरण को यह अधिका है कि किसी स्वरूपविशेष को इतर स्वरूपों का अधिनायक मानें. एतावता हमें ऐसा अधिका प्राप्त नहीं हो जाता. प्रिया भार्या अपने प्रियतम भर्ता को मानलीला में प्रणिपात करने देती तावता सन्तती को वह अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता कि पिता से अपने चरणों पर प्रणिपा करवाये. अतः श्रीमहाप्रभु किसी स्वरूप को अन्य स्वरूपों का अधिनायक मानते भी हों एत वता वैसा मानने-बरतने का अधिकार हमें नहीं मिल जाता है. हमें तो स्वरूप में तारतम्य न करने की आज्ञा का ही पालन करना चाहिये. "ईश्वराणां वचः सत्यं क्वचिद् आचरितं तथा

यह तो "सब स्वरूपों के अधिनायक" मानने पर लौकिक भाव होता है इस आक्षेप स्वीकार कर दिया गया समाधान है. वास्तविकता तो यह है कि श्रीमहाप्रभु ने इसका स्पष्ट करण "अभिमतया मूर्त्या प्रकारसहस्रमध्ये नवनीतचौर्यादिरूपेषु स्व-भावः नियामक (सुबो. ११।३।४।४८) द्वारा यह सन्देह दूर कर ही दिया है कि श्रीनवनीतप्रियाजी की स स्वरूपाधिनायकता निरपेक्ष न होकर श्रीमदाचार्यभाव-सापेक्ष है. तथा "नवनीतचौर्यादि पेषु' में 'आदि' पदविन्यास द्वारा यह अनुमति भी दे ही दी है कि अन्य किसी को यदि अन्य कि

स्वरूप में सर्वस्वरूपाधिनायकता स्व-भाव के अनुसार लगती हो तो वह भी अनुमत है. अपने सेव्य को अपना सर्वस्व तथा सर्वोपरितया स्वीकारने में कोई दोष नहीं. एतदर्थ दूसरे के सेव्य स्वरूप प्रमुख हैं कि नहीं इस विवाद या तर्कवाद की आवश्यकता नहीं है, और न अन्यों से हठात् मनवाने की कोई आवश्यकता है, और न दूसरों के ग्रन्थ - वचनों को तोड-मरोड़ कर पुनर्मुद्रित कराने की; और न कोर्ट में दावे लगा कर स्टे ऑर्डर लेने की भी. श्रीमहाप्रभु ने कहीं–किसी भी अन्य भगवद्विग्रहों की सेवा करने वालों के घर पर पत्रावलम्बन या छद्मनाम्ना पत्रप्रेषण नहीं किया कि "केवल श्रीनवनीतप्रियाजी ही सब स्वरूपों के अधिनायक हैं, अतः उनकी सेवा करने के कारण केवल उन्हें (श्रीमहाप्रभु को) ही जगद्गुरु स्वीकारना चाहिये."

इससे सिद्ध हुआ कि सर्वस्वरूपाधिनायकता "मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः" न्यायेन केवल श्रीमहाप्रभु के प्रति ही है–सबके प्रति नहीं. भक्तभाव-निरपेक्षतया तो सभी स्वरूप सर्वथा समान ही हैं–तत्तद्भक्तभावसापेक्षतया स्व-स्वभक्त के प्रति तत्तत् सेव्य स्वरूप सर्वोपरि हों इसमें लौकिकता नहीं मानी जा सकती. अतएव श्रीप्रभुचरण ने श्रीबेटीजी को उनके ही सेव्य में श्रीनाथजी समेत अन्य भी सभी स्वरूपों का सानुभाव प्रदान करवाया था. जिसकी पुष्टि श्रीवल्लभजी के इक्कीसवें वचनामृत द्वारा भी होती है.

सूत्र

"कृष्णसेवा सदा कार्या..." (सि. मु.) **तथा "कृष्णसेवापरं वीक्ष्य..."** (स. नि.) **वचनोंके आधार पर श्रीमद् विट्ठलनाथ प्रभुचरणके गृहमें प्रामुख्येन सेव्य स्वरूपोंकी प्रमुखता के विचारसे तत्सेवापर गोस्वामी महानुभावों में स्वजातीय इतर गोस्वामिओं से कुछ प्रमुखता ही पीठाधीशता है, यह विधान भी अतएव पूर्वोक्त तथा अन्य भी हेतुओं के कारण दोषपूर्ण है** (१।३).

भाष्य

सिन्द्धान्तमुक्तावली में श्रीकृष्ण की सेवा को आवश्यक माना गया है–"कृष्ण सेवा सदा कार्या" वचनद्वारा. चतुश्लोकी में श्रीकृष्ण का भजन हम पुष्टिमार्गिओं के लिये आत्म-शुद्धया एकमात्र स्वधर्म है यह दिखलाया गया है–"सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन" द्वारा. सर्वनिर्णय में जो श्रीकृष्ण की सेवा में तत्पर हो उसे ही गुरु बनाना चाहिये यह कहा गया है–"कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरं श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेज्जिज्ञासुरादरात्" (सर्वनि.) द्वारा. इस वचन की स्वोपज्ञ 'प्रकाश' व्याख्या में "यो हि सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् ताम् उत्तमां जानीयत् स्वयं कुतः न कुर्यादिति सेवापरएव गुरुः" कहा है. अतः श्रीकृष्ण के स्वरूप की सेवा से गुरुत्व सम्पादित होता है, इतना तो निश्चित है.

यहां संशय यह होता है कि श्रीकृष्ण के स्वरूप की सेवा से यदि गुरुत्व सम्पन्न होता हो तो श्रीकृष्ण के कुछ स्वरूपों को यदि श्रीमदाचार्यचरण अथवा श्रीमत्प्रभुचरण ने प्रामुख्येन सेव्य माना हो तो उनकी सेवा के कारण सेवाकर्ता में प्रमुख गुरुत्व या पीठाधीशत्व आता है यह भी सिद्ध होना चाहिये कि नहीं ?

पूजारिपीठवाद का पूर्वपक्ष यहां यह है कि साधारण स्वरूपों की सेवा के कारण यदि सामान्य गुरुत्व आता हो तो असाधारण वैशिष्ट्ययुक्त स्वरूप की सेवा के कारण असाधारण गुरुत्व भी आना ही चाहिये. श्रीमदाचार्यचरण द्वारा सेवित तथा श्रीमत्प्रभुचरण द्वारा सेवित स्वरूपों में कुछ स्वरूपों को एक सिंहासन पर साथ बिरजवा कर तथा कुछ निश्चित स्वरूप को अपने वंशजों को पधरा कर, वचन द्वारा न सही किन्तु कृति द्वारा तो इन स्वरूपों की कुछ विशिष्टता श्रीमहाप्रभु-प्रभुचरण ने भी प्रकट अथवा सूचित तो की ही है. फलतः इन स्वरूपों की सेवा का जिनको अधिकार है वे इस सम्प्रदाय में विशेषाधिकारशाली पीठाधीश हैं ऐसे स्वीकारना चाहिये.

आचार्यपीठवाद का उत्तरपक्ष यहां यों है कि पूर्वोक्त अधिकरणद्वय से भी यह पूर्वपक्ष अप्रासंगिक सिद्ध हो जाता है, फिर भी, इस अधिकरण के विषयवाक्यों के यथार्थ तात्पर्य के विमर्श के लोभवश हम अप्रासंगिक को भी प्रासंगिकवत् मानकर इस विवाद के निराकरणार्थ उसे इन वाक्यों के परिप्रेक्ष्य में परखने की चेष्टा करेंगे.

पूर्वपक्ष की सभी युक्तियां नितान्त निर्मूल हैं, क्योंकि प्रमुख सेव्य स्वरूपों की सेवा के कारण यदि प्रमुखता अथवा पीठाधीशता आती होती तो श्रीनाथजी-श्रीनवनीतप्रियाजी श्रीमथुराधीशजी, श्रीविट्ठलनाथजी श्रीद्वारकाधीशजी, श्रीगोकुलनाथजी, श्रीगोकुल चन्द्रमाजी, श्रीमदनमोहनजी की सेवा के कारण अपुष्टिमार्गीय बंगाली, गज्जन धावन, पद्म नाभदासजी, श्रीविट्ठलनाथोपासक ब्राह्मण, दामोदरदासजी, श्रीदेवन भट्टजी, नारायण दासजी ब्रह्मचारी, श्रीलक्ष्मण भट्टजी को भी आद्य प्रधानपीठाधीश, प्रथमेश, द्वितीयेश तृतीयेश, चतुर्थेश, पञ्चमेश या सप्तमेश के रूप में मान्य करने पड़ेंगे !

"इनके आचार्य वंशज न होने के कारण और श्रीप्रभुचरण के "भुविभक्तिप्रचारैककृत् स्वान्वयकृत् पिता स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्यः" (सर्वो. २२) वचन के आधार पर निजवंश में ही सामान्य आचार्यता और विशेष पीठाधीशता भी परिसीमित की गई होने से अन्यों में प्रमुख सेव्य स्वरूपों की सेवा के कारण पीठाधीशता नहीं आती. क्योंकि वहां सामान्य आचार्यत्व ही नहीं है." यह समाधान भी पूर्वपक्षी नहीं दे सकते क्योंकि तब-

(१) "षष्ठनिधि श्रीबालकृष्णजी के सेवा करनेवाले सूरत के घर के गोस्वामी सप्तान्यतम पीठाधीश हैं, क्योंकि षष्ठनिधि की सेवा करते हैं, जैसे द्वितीय निधि श्रीविट्ठलनाथजी की सेवा करनेवाले द्वितीय पीठाधीश हैं, (२) जो जो प्रमुख निधि स्वरूपों की सेवा करते हैं वे-वे प्रमुखपीठाधीश हैं. (३) श्रीबालकृष्णजी प्रमुख निधि हैं षष्ठनिधि होने से. (४) श्रीबालकृष्णजी षष्ठनिधि हैं बटवारे में षष्ठात्मज श्रीयदुनाथ जी के माथे सेवार्थ पधराये होने से.

इस युक्तिमाला की प्रत्येक कड़ी दुष्ट है. यथा : (१) कड़ी में आश्रयासिद्धि तथा असाधारण सव्यभिचार दोष है. (२) कडी में 'आचार्यवंशजत्व' उपाधि के कारण सोपाधिकत्व दोष है. (३) कड़ी में पूर्वोल्लिखित इतिवृत्त के आधार पर श्रीबालकृष्णजी में तथाकथित प्रमुखता का अभाव निश्चित होने से हेतु बाधित है. (४) कड़ी में पूर्वोक्त इतिवृत्त के आधार पर हेतु में स्वरूपासिद्धि दोष है और व्याप्यत्वासिद्धि भी. क्योंकि श्रीप्रभुचरण पधराना चाहते थे परन्तु पधराये नहीं गये. यदि १२० वचनामृतवाले परवर्ती श्रीगिरधरजी (वि. सं. १९०८

स्वीकृति के आधार पर एक बार तो सेवार्थ पधरा लिये थे ऐसा मान भी लें तो भी उनके पूर्ववर्ती श्रीविट्ठल भट्ट (स. क. द्रुमकार) श्रीवल्लभजी तथा श्रीगिरधरजी के परवर्ती राजनगरवाले श्रीरणछोडलालजी महाराज की स्पष्टोक्ति कि श्रीयदुनाथ जी ने स्वीकारे ही नहीं थे आधार पर सन्दिग्धव्याप्ति का दोष तो निश्चय ही है. अतएव 'स्वीकृति' उपाधि के भी कारण हेतु में सोपाधिकता का सन्देह है. क्योंकि उदाहरणतया श्रीविट्ठलनाथजी द्वितीयात्मज श्रीगोविन्दरायजी को पधराये गये और उन्होंने स्वीकारे इसलिये 'द्वितीयनिधि' बने. "द्वितीयात्मज की निधि" सो 'द्वितीयनिधि' यों षष्ठी तत्पुरुष समास है न कि "द्वितीय जो निधि" सो 'द्वितीयनिधि' समास प्रामाणिक हो सकता है. अतएव "षष्ठात्मज की निधि" ही 'षष्ठनिधि' कही जा सकती है-"षष्ठ जो निधि वह षष्ठनिधि" विग्रह प्रामाणिक नहीं है. अतः स्पष्ट है कि 'पधराने' में 'स्वीकृति' उपाधि होने से सोपाधिकता के सन्देह से ग्रस्त होने के कारण हेतु अनुमापक नहीं है.

"प्रथमात्मज श्रीगिरधरजी ने सेवा की अथवा सेवार्थ स्वीकारे इतने मात्र हेतु से श्री मथुरेशजी में प्रथम निधित्व आता होता तो श्रीनाथजी-श्रीनवनीतप्रियाजी-श्रीनटवर लालजी में भी प्रथम निधित्व आना चाहिये", ऐसी शंका उचित नहीं है. क्योंकि आचार्य पीठवाद के अनुसार निधिस्वरूपों में प्रथमता-द्वितीयता-तृतीयता-चतुर्थता-पञ्चमता-षष्ठता-सप्तमता जैसा कुछ है ही नहीं. आचार्यपीठवाद की तो सुस्पष्ट यही घोषणा है कि बंटवारे के समय पिता-पुत्रों के बीच विभाजन हुआ होने से आठ घर स्वतन्त्र बने थे. स्वाभाविकतया पितृगृह सभी सात पुत्रों के लिये प्रमुख गृह था ही. अतएव आजतक आठ में से एक प्रमुख पीठ गोस्वामितिलकायितश्री की तथा सात प्रथमादि-सप्तमान्त पीठ यथाक्रम श्रीप्रभुचरण तथा उनके सप्त सुतों की भावना से विद्यमान हैं. श्रीमद्वल्लभाचार्य में निहित एतत्सम्प्रदाय की आचार्यपीठाधीशता, इस तरह श्रीमत्प्रभुचरण की उत्तरावस्था में, अष्टधा विभक्त हुई होने के कारण तो आठ पीठाधीश माने जा सकते हैं, परन्तु सात-आठ-नौ-दस निधिओं की किसी तरह की प्रमुखता या गौणता के कारण नहीं. एक प्रमुख निधिस्वरूप की सेवा करने के कारण एक प्रमुख पीठाधीश तथा सात उपप्रमुखनिधि स्वरूपों की सेवा करने के कारण सात उप प्रमुख पीठाधीश होने की कल्पना ही नहीं की जा सकती है. कौन नहीं जानता कि श्रीनाथजी तथा श्रीनवनीतप्रियाजी के बीच दो में से किसी को भी प्रमुख या गौण माना नहीं जा सकता है, दोनों ही समप्रधान हैं. इसी तरह अन्य भी सातों निधि स्वरूप समप्रधान हैं. इसी तरह सभी पुष्टिप्रभु भी समप्रधान ही हैं.

प्रधानपीठ तथा सप्तपीठ के तारतम्य का आधार पिता-पुत्र होना था न कि 'प्रधान-निधि-सप्तनिधि' की सेवा के अधिकारी होना क्योंकि 'प्रधाननिधि' की सेवा का तो सभी को अधिकार था.

अतएव उत्तरकाल में निजगृह अथवा पीठ में पीठाधीशता के अधिकार के साथ-साथ श्रीविट्ठलनाथके गृह अथवा पीठ में भी पीठाधीशता का अधिकार जब श्रीगिरधरजी में निहित हुआ था, तब उन्होंने एकमात्र अपने में निहित दो अधिकारों को, अपने ज्येष्ठात्मज श्रीपुरुषोत्तमधरजी के विद्यमान न रहने के कारण, द्वितीयात्मज श्रीद्वामोदरजी तथा तृतीयात्मज

श्रीगोपीनाथजी के बीच पुनः बांट दिया था. यह बंटवारा प्रधान (पितृ) पीठ तथा प्रथमात्म
पीठ पर उत्तराधिकार प्रदान किये जाने के रूप में हुआ था. अतएव आज भी श्रीदामोदरज
के औरस या अनौरस उत्तराधिकारिओं को प्रधानपीठाधीश माना जाता है तथा श्रीगोपी
नाथजी के औरस या अनौरस उत्तराधिकारिओं को प्रथम पीठाधीश माना जाता है. पीठा
धीश होने का आध्यात्मिक मतलब उसे बंटवारे में श्रीप्रभुचरण ने जो अपने में निहित स्वतन्
आचार्यत्व था उसे अष्टधा विभक्त किया था, उसी आचार्यत्व की आनुवंशिक प्राप्ति है. व
आचार्यत्व अपने सातों पुत्रों में समानतया विभक्त करके श्रीप्रभुचरण ने आचार्यत्व में ज्येष्
पुत्राधिकारवाद को अमान्य कर दिया था. अतएव अद्यावधि श्रीमदाचार्यचरण के प्रत्ये
वंशज में आचार्यत्व, कृष्णसेवापरता–दम्भादिरहितता–भागवततत्त्वज्ञता होने पर, निर्वि
चिकित्सितया समान ही है. अन्यथा "स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्य" के अदर्शन में गुरु
योग्यता के ही सन्दिग्ध हो जाने पर गुरुद्वारता ही केवल मानी जा सकती है. इस आध्यात्मि
आचार्यत्व के उत्तराधिकार के अलावा सम्पत्तिधारणादि में आधिभौतिक उत्तराधिकार में
मन्वादिस्मृत्युक्त वैकल्पिक ज्येष्ठ पुत्राधिकार ही मान्य रहा था. यही कारण रहा कि अक्स
ज्येष्ठ पुत्र ही पीठाधीश होते रहे हैं. पीठाधीशता, अतएव आज कुछ अपठितोंको लगता
कि, बड़भैयाओंका विषय है, जबकि वस्तुतः तो यह भी शास्त्रीय विषय ही है.

यही कारण था कि ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण श्रीगिरधरजीको श्रीप्रभुचरणकी विद्य
मानतामें हुये सम्पत्ति विभाजन में समानांश दे दिया था. बाद में श्रीप्रभुचरणकी आसुरव्या
मोहलीला के बाद श्रीमद्विट्ठलनाथ गृह/पीठ पर भी आधिपत्य दायभाग में ज्येष्
पुत्रोत्तराधिकारवश प्राप्त हुआ.

वाल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्त एवं शिष्टाचार से अनभिज्ञ अथवा द्वेष करनेवाले क
लोग हास्यापद विधान करते हैं कि श्रीनाथजी की सेवा के अधिकार के कारण श्रीगिरधरजी
के द्वितीयात्मज श्रीदामोदरजी को तथा उनके वंशजों को गोस्वामितिलकायित माना जाता है
हकीकत, जबकि, यह है कि बंटवारे में श्रीनाथजी किसी भी एक के माथे पधराये ही नहीं गये
थे. अतएव श्रीनाथजी पर सभी का समान स्वत्व था. यह जैसे श्रीगिरधरजी और उनके
छह भाईओं के बीच की व्यवस्था थी वैसी ही बाद में भी रही थी. यही कारण था कि, श्रीव्रज

* ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समं भजेरन् पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतो, ज्येष्ठ
एव तु गृह्णीयात् पित्र्यं धनमशेषतः शेषास्तमुपजीवेयुः यथैव पितरं तथा, . . . पितेव पालयेत्
पुत्रान् ज्येष्ठो भ्रातॄन् यवीयसः पुत्रवच्चापि वर्तेरन् ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः . . . यो ज्येष्ठो
ज्येष्ठवृत्तिस्यात् मातेव स पितेव स, अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात् स संपूज्यस्तु बन्धुवत् एवं सह
वसेयुः वा पृथग्वा धर्मकाम्यया, पृथग्विवर्धते धर्मः तस्माद् धर्म्या पृथक् क्रिया (मनुस्मृति–
९।१०४-१११) एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोनुजः अंशीमंशं यवीयांस इति धर्म
व्यवस्थितः (मनु. ९।११७) विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन् पुनर्यदि । समस्तत्र विभाग
स्यात् ज्यैष्ठयं तत्र न विद्यते (मनु. ९।२१०) विभागं चेत् पिता कुर्याद् इच्छया विभजेत्
सुतान् ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्युः समांशिनः (याज्ञल्क्य स्मृति २।११८) "एक पाकेन
वसतां पितृदेवद्विजार्चनम्, एकं भवेद, विभक्तानां तदेव स्याद् गृहे-गृहे" (बृहस्पति स्मृति).

रायजी ने हक से श्रीनाथजी की सेवा श्रीदामोदरजी के वंशज श्रीगोविन्दजी (द्रष्टव्य सं. क. द्रु. ९।५९-६४) से ली थी.

अतः श्रीनाथजी के स्वरूप तथा सेवा पर तो सभी का समान स्वत्व है. निष्कर्षरूपेण सभी गोस्वामिमहानुभाव 'प्रधान पीठाधीश' कहलायेंगे, यदि श्रीनाथजी पर स्वत्व या सेवाधिकार के कारण प्रधान पीठाधीशता आती होती तो श्रीदामोदरजी के उत्तराधिकारिओं को प्रधान पीठाधीश माना जाता रहा है क्योंकि श्रीदामोदरजी को श्रीमद्विट्ठलनाथजी का गृह या पीठ श्रीगिरधरजी द्वारा उत्तराधिकार में दायभागतया प्राप्त हुआ था. श्रीनवनीतप्रियजी उस घर में मुख्य निधि है, अतएव श्रीगिरधरजी द्वारा लिखित उत्तराधिकार पत्र में भी श्रीनवनीतप्रियाजी तथा श्रीमथुराधीशजी का ही उल्लेख है–श्रीनाथजी का नहीं (द्रष्टव्य वेणु नाद पृष्ठ ४ व.१ अं.१) अतएव आज भी श्रीनवनीतप्रियाजी पर गोस्वामितिलकायितश्री का एकाधिकारवाला स्वत्व है. क्योंकि वह उनके प्रधानगृह/पीठ में सेव्य निधिस्वरूप है, जबकि श्रीनाथजी पर प्रत्येक वल्लभवंशज गोस्वामी का समान स्वत्व होने से केवल व्यवस्थाधिकार प्रधान पीठाधीश का है. यह साम्प्रदायिक सिद्धान्त तथा शिष्टाचार द्वारा अभिमत कल्प है. धर्मनिरपेक्षता का ढोंग करनेवाली सरकार अपने अधार्मिक कानून चाहे जैसे हम पर थोप दे उससे हमारी सिद्धान्तनिष्ठा में कोई अन्तर नहीं पडना चाहिये. अस्तु.

इससे सिद्ध हुआ कि असामान्य पीठाधीशता तो सम्पत्ति (चाहे वह आधिदैविक सेव्य निधि स्वरूप–पादुका-हस्ताक्षरादि रूप हो या आधिभौतिक धन-भवन-भूमि-आभूषण-आदि रूप हो) से सम्बन्धी आधिभौतिक अधिकार है. जबकि गुरुत्व या आचार्यत्व तो स्वमार्गीय सिद्धान्त-दीक्षा-कर्तव्योपदेश-सेव्यस्वरूपदातृत्व रूप आध्यात्मिक अधिकार है. यह कृष्णसेवा-परता-दम्भादिरहितता-भागवततत्त्वज्ञतारूप अशेष माहात्म्य जिन-जिन स्ववंशजों में श्री महाप्रभु प्रकट करते हैं उन सभी में समप्रधान ही है, यह निरूपण तो हमने कर ही दिया है, ऐसे अशेष माहात्म्यशाली सभी वंशजो में "भुविभक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत् पिता स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्य" श्रीमहाप्रभु का आचार्यत्व अक्षुण्ण है. अन्यथा "स्मयापहः" बन कर "तदभावे स्वयं वापि मूर्ति कृत्वा हरेः क्वचित्" के अनुकल्प का भी श्रीमहाप्रभु ने उपदेश तो दिया ही है. इसकी विस्तृत चर्चा आगामी अधिकरण में करेंगे.

कथमपि सेव्यनिधि स्वरूपों के बंटवारे में नामोल्लेख का तात्पर्य इतना नहीं खींचा जा सकता कि सामान्य या प्रधान तत्तत् सेव्य निधि स्वरूपों की सेवा के अधिकार द्वारा सामान्य गुरुत्व या प्रमुख गुरुत्व (पीठाधीशत्व) प्राप्त होता है–क्योंकि "अर्थो हरिरेव हि" वचन के अनुसार हमारा सेव्य स्वरूप हमारा सब से बडा धन है तथा उस दिव्य धन पर स्वत्व स्थापित करने के लिये निधि का नामोल्लेख किया जाता है. एतावता सेवाधिकार तथा स्वत्वाधिकार एक वस्तु नहीं है. सेवाधिकार अपुष्टिमार्गीय बंगालियों को भी था परन्तु उनका श्रीनाथजी के स्वरूप पर स्वत्वाधिकार नहीं था. वह तो बहुत बाद में श्रीमत्प्रभुचरण में निहित हुआ था अर्थात् श्रीपुरुषोत्तमजी के नित्यलीला प्रवेश के बाद.

यह बिलकुल साफ-साफ समझ लेना चाहिये कि यह स्वत्व छीना-झपटी-छलछद्म-कुलाचार के विपरीत किसी का हक हथिया लेने से प्राप्त नहीं हो जाता. अन्यथा भविष्य में इस निधि

स्वरूपों को छीनाझपटी–छलछद्म से हथिया लेने की दुर्वृत्तियां भी पनप सकती हैं. और तब जो भी व्यक्ति सदसद् जिस किसी भी वृत्ति से मनचाही निधि को पधरा लेने की हिम्मत दिखायेगा वह आठ में से एक पीठ का पीठाधीश बन सकेगा. अतः दो स्थितिओं के बीच की विभाजक रेखा हमें खींचनी होगी कि चाहे वल्लभवंशज ही क्यों न हो परन्तु क्या कोई यथा कथंचित् पीठाधीश बनने के लिये किसी प्रमुखनिधिस्वरूप की सेवा में तत्पर हो रहा है या फिर नीति-न्याययुक्त स्वत्वाधिकारवश किसी पीठ का पीठाधीश होने के कारण पीठ स्थित निधिस्वरूप की सेवा में तत्पर है ?

यदि इन दो स्थितिओं के बीच रही विभाजक रेखा को धुंधली नहीं बनाते तो यह साफ दिखलाई देगा कि रेखा के एक ओर पूजारिपीठवादी मनोवृत्ति है तथा दूसरी ओर आचार्य पीठवादी मनोवृत्ति है. श्रीमहाप्रभु ने भी, अतएव, केवल कृष्णसेवापरता ही एकमात्र शरत नहीं रखी है परन्तु "कृष्णसेवापरत्वे सति दम्भादिरहितत्वे सति भागवततत्त्वज्ञत्वं गुरुत्वम्" की शरत रखी है. अतएव यहां परकी 'प्रकाश' व्याख्या में श्रीमहाप्रभु ने स्वयं ही यह स्पष्ट कर दिया है "तत्रापि निमित्तानि वारयति 'दम्भादिरहितम्' इति. सेवा प्रमाणमूलैव पुरुषार्थं पर्यवसायिनी. अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय अन्यथा करणे न फलसिद्धिः" (सर्व. नि. प्र. २२७). अतएव उक्त लक्षण के अभाव में भगवत्सेवार्थ वर्तमान गुरुओं की अपरिहार्यता भी श्रीमहाप्रभु ने निरस्त कर दी है. परिणामरूपेण पुष्टिमार्गीय इतिहास में यह देखा जा सकता है कि जब किसी महाराजश्री को पुरुषसन्तती न हो तब पुत्री का भी स्वत्व पीठ से सम्बन्धित लौकिक-अलौकिक सभी सम्पत्ति (अर्थात् धन-भवन-भूमि-आभूषणादि तथा पीठस्थितनिधि स्वरूप) पर तो स्थापित हो ही सकता है. इतिहास, किन्तु, इसका भी साक्षी है ही कि ऐसी सभी पीठ या गृहों में उन पुत्रियों के वंशज कभी उत्तराधिकारी नहीं बनाये जा सके. देर सबेर किसी आचार्यवंशज पुरुषसन्तती को ही वहां उत्तराधिकार सौंपना पड़ा, इससे सिद्ध होता है कि पीठ-सम्पत्ति पर स्वत्वाधिकार या अधिपतित्व आधिभौतिक है, जबकि आचार्यत्व या गुरुत्व आधिभौतिक उत्तराधिकार न होकर आध्यात्मिक उत्तराधिकार है. इस उत्तराधिकारिता का स्वरूप–श्रीप्रभुचरण के "भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत् पिता स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्यः स्मयायहः" (सर्वो. २२) तथा श्रीमहाप्रभु के "कृष्णसेवापरं वीक्ष दम्भादिरहित नरं श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेज्जिज्ञासुरादरात् तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र चस्थितम्" (सर्वनि. २२७-२८) यों इन दोनों वचनों के समन्वित–एकवाक्यतापन्न तात्पर्य द्वारा–उट्टंकित करना पड़ेगा. अन्यथा आचार्यवंशजा पुत्रिओं में भी पीठसम्पत्तिधारण के अधिकार की तरह गुरुत्व का भी उत्तराधिकार गलेपतित होगा. क्योंकि सम्पत्ति पर स्वत्वाधिकारवश उस पीठ में स्थित निधिस्वरूप की सेवा करने में किसी भी बेटीजी को कभी अनधिकारिणी माना नहीं गया था. श्रीवल्लभाख्यानकर्ता गोपालदासजी ने भी तो स्वीकारा ही है कि "श्रीलक्ष्मी–सत्यभामा बेहु अग्रजनी अनुहार रे रसना, श्रीनवनीत प्रियाजी ने रीझ्या सेव्या विविध प्रकार रे रसना" (श्री वल्लभाख्यान ९।१२).

यदि कहा जाये कि बेटीजी द्वारा की गई श्रीनवनीतप्रियाजी की सेवा उस समय की है कि जब श्रीनवनीतप्रियाजी श्रीप्रभुचरण के स्वत्वाधिकार में बिराज रहे थे, अतः वह सेवा

ही नहीं थी वह तो केवल परिचर्या थी. तब तो बात बिलकुल साफ हो गई कि केवल सेवा करने मात्र से पीठाधीशता नहीं आती, जैसे श्रीगोपीनाथजी के बेटीजी में प्रधान पीठाधीशता नहीं आई थी, परन्तु स्वत्वाधिकार प्रयुक्त सेवाधिकार हो तभी आती है. यह स्वीकारते ही पूजारि-पीठवादी का प्रभात घट्टकुटी में हो गया ! क्योंकि पुत्रसन्तती के अभाव में बेटीजी को भी स्वत्वाधिकार प्रयुक्त सेवाधिकार तो है ही. परन्तु पीठसम्पत्ति का अधिपतित्व रहने पर भी गुरुत्व या आचार्यत्व रूप पीठाधिपतित्त्व नहीं है. अतः पीठाधीशता के इन दोनों रूपों, अर्थात् (१) पीठ स्थित लौकिकालौकिक सम्पत्ति पर आधिभौतिक स्वत्व (२) पीठस्थित आचार्यपदवी पर आध्यात्मिक स्वत्व, का तारतम्य समझे बिना अन्धकार में सिद्धान्तचक्षु रहित वैष्णव माता-पिता के श्रद्धालु पुत्र जैसे प्रवचनश्रवण ऋषिओं पर महाराजा दशरथ की तरह मिथ्या स्तोत्रनामावलिओं के श्रवणवेधी बाण छोडने की दुःसाहसपूर्ण क्रूरता नहीं करनी चाहिये.

कुछ अनधीत तथा चाटुकारी लोग इन "कृष्ण सेवापरं वीक्ष्य . . . तदभावे स्वयं वापि . . ." श्लोकों को श्रीमहाप्रभुका पुष्टिमार्गीय उपदेश न मान कर मर्यादामार्गीय उपदेश मानते हैं. तब तो कृष्णसेवापरता भी मर्यादामार्गीय गुरु का लक्षण होगा. पुष्टिमार्गीय गुरु फिर शत-चण्डी-अनुष्ठानतत्पर तथा शेरडी के सांईबाबा को चादर चढाने में तत्पर ही होना चाहिये. दम्भादिरहित होना भी फिर मर्यादामार्गीय गुरु का ही लक्षण होना चाहिये. पुष्टिमार्गीय गुरु को तो आजीविकार्थं नित्य सेवा-मनोरथ-दर्शन-भेट-सामग्री-मनोरथि-समाधानात्मिका पञ्चधा भगती के व्यावसायिक मन्दिर चलानेवाला प्रकाण्ड दाम्भिक ही होना चाहिये. श्रीभागवततत्त्वज्ञ भी तो मर्यादामार्गीय गुरु को होना चाहिये तथा टी. वी. विडियो तत्त्वज्ञ पुष्टिमार्गीय गुरु को ! ऐसी स्थिति में श्रीमहाप्रभु से पूछा जाये कि तब पुष्टिभक्तिमार्ग का अनुसरण करना कि मर्यादाभक्तिमार्ग का ? श्रीमहाप्रभु निश्चित ही मर्यादाभक्तिमार्ग को पसन्द करेंगे, 'विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम" (कृष्णाश्रय ९).

अन्य कुछ क्षुद्र स्वार्थैकनिष्ठ व्यक्ति "तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात्" अनुमति में प्रयुक्त 'तदभावे' पद का अर्थ "सत्परिपन्थिनाम् अभाव-युक्ते" दिखलाते हैं. जबकि वास्तविकता यह है कि श्रीमहाप्रभु ने इस कारिका की उत्थानिका में ही "सच दुर्लभ इति तेनापि वक्तव्यं प्रकारम् आह 'तदभावे' इति कह कर "तदभाव' का अर्थ 'दुर्लभता' कर दिया है. मूलकारिका में "मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात्" जो अनुज्ञा दी है उसमें प्रयुक्त 'क्वचित्' पद का व्याख्यान–"देशविशेषे सत्यरिपन्थिनाम् अभावयुक्ते" दिया है. इससे सिद्ध होता है कि पीठा-धीशपदलोलुपतावश कृष्णसेवापरायण व्यक्ति को गुरु बनाये बिना जहां सन्मार्गगामिओं को दिग्भ्रान्त करने वाले न बसते हों ऐसे देश में बस कर स्वयमेव श्रीमहाप्रभु के सिद्धान्त-प्रणालिकानुसार भगवत्सेवा में प्रवृत्त हो जाना अधिक श्रेयस्कर प्रकार है. अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं–"अयमेव अस्य मार्गस्य प्रकारः उत्तमः" (सर्वनि. प्रकाश. २२८).

श्रीपुरुषोत्तमजी ने भी, अतएव, यहां के आवरणभंग में "ननु अत्र मूलएव कुठारपात इति आकांक्षायां कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एत न्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्तः आहुः 'सच' इत्यादि 'तदभावे...' इति आज्ञापनाद् इ ज्ञात्वा करणे... आभासत्वाभावः सेवायाः, तृतीयस्कन्धोक्तमौढ्याभावश्च सेवाकर्तृ साधितः. स्वयमेव सेवाकरणेपि प्रकारविशेष सन्देहे तादृशाः यदि मिलन्ति तदा प्रकारांश पृष्टव्याः इत्यपि सूचितं 'सत्परिपन्थिनाम् अभाव युक्ते" इति ...." व्याख्या दी है.

इससे सिद्ध होता है कि सेवार्थ ब्रह्मसम्बन्धदीक्षादाता सेव्यभगवत्स्वरूपप्रदाता तथा सेवाप्रकारोपदेशक गुरुत्वपदाकांक्षी व्यक्ति यदि "कृष्णसेवापरत्वे सति दम्भादिरहितत्वे सति श्रीभागवततत्त्वज्ञत्व-शाली न हो तो दीक्षार्थी स्वयं भी भगवत्सेवा में प्रवृत्त हो सकता है. ऐसी विषम स्थिति में जब गुरु को ही अपरिहार्य नहीं माना, तब पूजारिकी मध्यस्थता की दीवार भक्त-भगवानके बीच में श्रीमहाप्रभु खड़ी करना चाहते हों यह तो सोचा भी नहीं जा सकता है. पूर्वोक्त पञ्चधा भगती के व्यावसायिक प्रदर्शन करनेवाले मन्दिर श्रीमहाप्रभु के मत के अनुसार, आचार्यपीठ हो ही नहीं सकते.

अतः इन्हें सुधारना तथा तद्द्वारा पीठासन को पुनः आचार्योचित गरिमा से मण्डित करना आज की तारीख में प्रत्येक पुष्टिमार्गीय का प्रथम-परम-चरम कर्तव्य है. वह तभी सम्पन्न हो सकता है जब आचार्यवंशज होने के बावजूद पूजारिताकी बाललीला करनेवाले आत्मघाती बालकों की भगवत्सेवार्थ–भगवन्मनोरथार्थ धनोपार्जन की कुप्रवृत्ति में वित्तज-असहयोग किया जाये. पुष्टिमार्गीय जनता के स्वस्वगृहस्थित सेव्य स्वरूपों में सेवानिष्ठा के खण्डनार्थ आयोजित होते भडकीली सजावटोंवाले व्यावसायिक भगवत्प्रदर्शनों में तनुज–असहयोग के रूप में जब पुष्टिजीव अनुपस्थित रहें. साथ ही साथ स्वयं आचार्यवंशजों में आचार्यपदोचित गौरव-पूर्ण भावों को दोबारा भरने के लिये आचार्यरूप में उन्हें सम्मानित भी करते रहने पर इन बालकों में पुनः आचार्योचित साहस जुट पायेगा. इससे लाभ यह होगा कि श्रीमहाप्रभु–प्रभु-चरणादि पूर्वाचार्यों की सर्वस्वरूप निधियों को पण्यीकरण द्वारा आज दिया जाता परिश्रम दूर हो जायेगा. अन्त में भगवत्सुखविचार ही तो भगवत्सेवा का गूढ रहस्य है. अन्यथा ये सभी आचार्यवंशज किसी दिन प्रसाद विक्रेता (परसादिया) बन जायेंगे.

यहां कवि घनश्याम की कविता को उद्धृत करने का लोभसंवरण हम नहीं कर पाते हैं–

बूंदी के सेव के मनोहर के मगद हू के
मोहन थार केसरी धरी है नेग लायके।
घनश्याम प्यारे पेडा बरफी बदाम पाक
पेठा पाक मावादार गूंजा देख खाय के।
लुचई नरमपूडी राजभोग सेन हू की
और दूधपूडी तवापूडी छबि छाय के।
बरकदार केसरी प्रसाद भांति-भांति हू के
बैठे हैं परसाद्या ये दुकान कों सजाय के।।

निश्चित ही यह चित्रण आचार्यपीठ का हो नहीं सकता और ऐसा चित्र महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य के अशेष माहात्म्यशाली वंशजों का उभरे नहीं, यही हेतु हमारा पूजारिपीठवाद के तीव्र विरोध का है. सामग्री प्रदर्शनोत्सवोद्वारा पुष्टिमार्गीय जनता की शुद्ध पुष्टिभक्ति को अशुद्ध व्यावसायिकतावाली भगती में आज विकृत कर दिया गया है. इस तरह हमारे खोदे हुए खड्डे में हम स्वयं गिर गये हैं!

सूत्र

"श्रीबदरीनाथ तीर्थके पुरोहितको प्रदत्त वृत्तिपत्रमें 'श्रीबालकृष्ण वात्सल्य निष्ठा निमग्न मानस' शब्दावलीके आधार पर सूरतस्थ स्वरूपकी प्रधान सेव्यता सेवाकर्तामें पीठाधीशताधायक है" कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि विभिन्न यात्रामें विभिन्न स्वरूप सेवामें विराजे हैं तथा 'श्रीबालकृष्ण' नाम बाललीलाविशिष्ट सकल स्वरूपोंका वाचक भी हो सकता है (१।४).

भाष्य

इस अधिकरण में श्रीमहाप्रभु द्वारा श्रीबदरीनाथतीर्थ के पुरोहित को दिये गये वृत्ति पत्र में निज हस्ताक्षर में स्वयं के बारे में श्रीमहाप्रभु ने जो शब्दावली लिखी है कि "श्रीबाल-कृष्ण-वात्सल्यनिष्ठा-निमग्न-मानसः" उसके बारे में विचार करना है.

संशय यह है कि क्या श्रीमहाप्रभु का मानस केवल सूरतस्थित श्रीबालकृष्णजी की वात्सल्यनिष्ठा में ही निमग्न होने से क्या ये ही स्वरूप श्रीमहाप्रभु के प्रमुख सेव्य स्वरूप हैं, अथवा, 'श्रीबालकृष्ण' नाम श्रीकृष्ण के बालरूप में श्रीमहाप्रभु की वात्सल्यनिष्ठा का द्योतक है ऐसा इस वचन के आधार पर मानना चाहिये?

पूजारिपीठवाद का पूर्वपक्ष यहां यह है कि (क) सात स्वरूपों में किसी भी स्वरूपके साथ मूलनाम 'श्रीकृष्ण' नहीं जुडा है. अतः अन्य कोई भी स्वरूप जन्म प्रकरण से फल प्रकरण पर्यन्त भागवतोक्त सर्व लीलाओं में अनुस्यूत स्वरूप नहीं है. (ख) यद्यपि 'श्रीबालकृष्ण' नाम के कारण बाललीला का बोध होता है परन्तु "यशोदाक्रोडे स्थितोपि सकलजगदाधारः" श्रीमहाप्रभु के वचनानुसार रासान्तर्गत "अष्ट कृष्णाः भवन्ति" वाक्य में भी विवक्षित आठ में से एक स्वरूप सूरतस्थ श्रीबालकृष्णलालजी हैं. (ग) बाललीला के अन्तर्गत प्रमाण प्रकरण में "पूतनासुपयःपानकर्ता" श्रीबालकृष्णलाल (सूरतस्थ) का स्वरूप ही प्रमेय प्रकरण में गोपिकाओं को पुम्भावप्रदाता बनता है तथा फलप्रकरण में वही स्वरूप रासलीलाकर्ता होने से मूल-रूप हैं. (घ) तृतीयान्त सुबोधिनीलेखन के बाद दशमस्कन्ध-सुबोधिनी-लेखनार्थ, सम्प्रदाय-प्रदीपकर्ता श्रीगदाधरदास के अनुसार, "श्रीभागवततृतीयटीका श्रीवल्लभैः कृता तदा श्रीबालकृष्णेन उत्संगे उपविश्य उक्तं 'मदीयं चरित्रं व्याकुरु', तदा दशमस्कन्धव्याख्यानं कृतम्" वचन के आधार पर दशमस्कन्धीय लीला में मूल चरित्र सूरतस्थ श्रीबालकृष्णजी का ही होने से वे ही मूल रूप हैं. (ङ) श्रीप्रभुचरण के बाल्यकाल में इन्हीं श्रीबालकृष्णलाल तथा

श्रीप्रभुचरण के बीच एक दिन ठोरकी छीना-झपटी भी हो गई थी, ऐसे बाललीलाविनोदी तथा सानुभावप्रदायक होने से ये ही स्वरूप सर्वोपरि हैं. (च) श्रीप्रभुचरण ने अणुभाष्य में 'जानीतं परमं तत्त्वं यशोदोत्संग लालितं तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधाः" जो कहा है वह भी सूरतस्थ श्रीबालकृष्णलालजी के लिये ही कहा होने से श्रीबदरीनाथतीर्थपुरोहित को लिखे वृत्तिपत्र में प्रयुक्त 'श्रीबालकृष्ण' पद भी सूरतस्थ श्रीबाललालजी स्वरूप का वाचक है ऐसा स्वीकारना चाहिये. (द्रष्टव्यः से. से. र. श्रीबालकृष्णाष्टक-भावतात्पर्य श्लोक १–७).

आचार्यपीठवाद का उत्तरपक्ष यहां यह है कि इस तरह (क) केवल नामाक्षरों के बल पर इतनी सारी अश्रुतपूर्व निर्मूल मिथ्या भावनाओं का प्रवर्तन करने की प्रतिस्पर्धा जगाई गई तो कल चतुर्थ पीठ का कोई व्यक्ति यह भी कहने लग जायेगा कि चतुश्लोकी की तृतीय-चतुर्थ कारिका में 'श्रीगोकुलेश्वर' तथा 'गोकुलाधीश' नाम प्रयुक्त हुआ है अतः पुष्टिमार्गीय पुरुषार्थ रूप स्मरण-भजन तो केवल गोकुलस्थित श्रीगोकुलनाथजी के स्वरूप का ही हो सकता है अन्य स्वरूपों का नहीं. इसी तरह दशम स्कन्धीय समग्र लीला में अनुस्यूत स्वरूप को श्रीमहाप्रभु ने 'परमफल' या 'महाफल' रूप नहीं गिनाया. रासमण्डल के मध्य में स्थित होना तो बाह्य लीला है जबकि आभ्यन्तर लीला ही परमफलरूपा है–"बाह्याभ्यन्तरभेदेन आन्तरं तु परं फलम्" (सुबो. १०।२६।१). अतः आभ्यन्तरलीलारूप परमफल–प्रदायक स्वरूप तो श्री मथुराधीश–श्रीद्वारकाधीश का ही हो सकता है. क्रमशः आसक्तिरूपा तथा व्यसनरूपा भक्ति का साधक अन्य कोई स्वरूप नहीं. व्यसन के बिना कृतार्थता सम्भव नहीं. यह "यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव" (भ.व.५) के आधार पर सिद्ध होता है. अतः सर्वानुस्यूत स्वरूप से कृतार्थता सम्भव नहीं वह तो केवल श्रीमथुराधीश–श्रीद्वारकाधीश द्वारा ही सम्भव है. यह "बाललीलानामपाठात् श्रीकृष्णे प्रेम जायते आसक्तिः प्रौढलीलायाः नाम्नां पाठाद् भविष्यति व्यसनं कृष्णचरणे राजलीला–विधानतः" (त्रि. ना.) वचन द्वारा सिद्ध होता है. अतः 'श्रीबालकृष्ण' नाम के साथ 'बाल' विशेषण जुड़ जाने के कारण यह स्वरूप केवल प्रेमप्रद हो सकता, जिससे कृतार्थता सुलभ नहीं. जबकि प्रौढ़लीलायुक्त श्रीमथुराधीश तथा राजलीलायुक्त श्रीद्वारकाधीश क्रमशः उत्कृष्ट भाव के प्रदायक होने से श्रीबालकृष्ण जी के स्वरूप से भी अधिक श्रेयस्कर है. सूरत स्थित श्रीबालकृष्णजी का स्वरूप सर्वलीलानुस्यूत हो सकता है परन्तु सर्व स्वरूपों के अधिनायक तो नाथद्वारास्थित श्रीनवनीतप्रियाजी हैं अतः श्रीबालकृष्णजी के भी अधिनायक वे ही हैं, अतः श्रीबालकृष्णजी तो विभूति रूप हैं–पूर्ण पुरुषोत्तम नहीं !

पूजारिपीठवाद के भक्तिवश, परन्तु ऐसे भावों की प्रतिस्पर्धा जगाने से पहले सोचना चाहिये कि केवल अपने अहं की पुष्टि के लिये हम मार्ग के सिद्धान्त तथा स्वरूपों के साथ कितना जघन्य खिलवाड़ कर रहे हैं !

(ख) जैसे विरुद्धधर्माश्रायतावश श्रीबालकृष्णजी का स्वरूप सर्वलीलानुस्यूत हो सकता है वैसे ही अन्य स्वरूप भी हो सकते हैं. अतः रास की भावनावाले श्रीगोकुलचन्द्रमाजी या श्रीमदनमोहनजी विरुद्धधर्माश्रयतया बालरूपेण प्रकट नहीं हो सकते, इसमें प्रमाण क्या ?

(ग) पुंभावप्रदान भी अतः श्रीगोकुलचन्द्रमाजी या श्रीमदनमोहनजी ने नहीं किया इसमें प्रमाण क्या ?

(घ) बाललीला के स्वरूप होने के बावजूद जैसे श्रीबालकृष्णलालजी रासमण्डल में अवस्थित हो सकते हैं ऐसे विरुद्धधर्माश्रयतया बालरूप धारण करके श्रीगोकुलचन्द्रमाजी या श्रीमदनमोहनजी क्यों "मदीयं चरित्रं व्याकरु" आज्ञा नहीं कर सकते ?

(ङ) ठोर की छीना-झपटी का प्रसंग तो इस बात का भी प्रमाण हो सकता है कि ये स्वरूप सेवा के नहीं प्रत्युत खेलने के ठाकुरजी थे. अर्थात् पुष्ट भी नहीं किये गये होंगे.

(च) "जानीतं परमं तत्त्वं यशोदोत्संगलालितं . . . ." कारिका तो रश्मिकार के अनुसार श्रीनवनीतप्रियाजी की स्तुति में लिखी गई कारिका है (रश्मि परिशिष्ट कारिका ८).

इससे सिद्ध हुआ कि श्रीबदरीनाथ तीर्थ के पुरोहित को लिखे गये वृत्तिपत्र में "श्रीबालकृष्ण" पद सूरत स्थित स्वरूप का वाचक न होकर श्रीकृष्ण के बालरूप का द्योतक है. एतावता न तो इन्हें 'मुख्यनिधि' कहा जा सकता है और न इसके कारण उनके सेवाकर्ताओं को षष्ठपीठाधीश ही.

सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यही है जिन श्रीयदुनाथजी की मिथ्या नामावली "श्रीबालकृष्णसर्वस्व, बालकृष्णैकहृदयो, बालकृष्णैकलोचन, बालकृष्णैकेष्टदेव" घड़ी गयी हैं, वे स्वयं न तो अपने इष्टदेवतया और न श्रीमहाप्रभु के सेव्यतया कहीं श्रीबालकृष्णलाल का उल्लेख करते हैं. जबकि पुष्टिमार्गीय अनेक निधि स्वरूपों, उदाहरणतया, श्रीमुकुन्दरायजी श्रीमदनमोहनजी, विष्णुमुनिसेवित एक दूसरे बालकृष्णजी जिन्हें श्रीमहाप्रभु ने स्वीकारा नहीं, श्रीगोवर्धननाथजी श्रीगोकुलनाथजी, श्रीविट्ठलनाथजी, श्रीद्वारकानाथजी, श्री गोकुलचन्द्रमाजी, इनके अलावा मर्यादामार्गीय अन्य अनेक भगवद्विग्रहोंका उल्लेख भी श्री वल्लभदिग्विजय में मिलता है. जबकि यह उल्लेखनीय है कि यह ग्रन्थ बंटवारे के बाद लिखा गया है विक्रम संवत १६५८ में. ऐसी स्थिति में पूजारिपीठवादिओं के अलावा अन्य कौन स्वीकार सकता है जो भ्रामक बातें मिथ्या नामावलिओं में सूचित की गई हैं :

श्रीयदुनाथजी का इस विषय में मौन ही पूजारिपीठवाद की अप्रामाणिकता का तुमुल घोष है.

सूत्र

"सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा" (नवर. ७) वचन से विरुद्ध होने के कारण "तदभावे स्वयं वापि" वचन मर्यादामार्गीय उपदेश है यह कहा नहीं जा सकता क्योंकि उपक्रमोपसंहार विचारसे दोनों ही वचन पुष्टिमार्गीयोपदेशरूप हैं, व्यवस्थित विकल्पद्योतक (१।५).

भाष्य

स्पष्ट है कि उल्लिखित परस्पर विरोधाभासी दोनों वचन यहां विषयवाक्य हैं. उपलक्षणविधया अन्य वचन भी यहां विषय वाक्य माने जा सकते हैं.

यथा –

(क) स्वतः करणे हि सर्वत्र दोषाः (सुबो. १० उ.।३७।५५)

(ख) गुरूपदेशं बिना ये स्वतः पूजां कर्तुं वाञ्छन्ति ते अतीव दुर्बुद्धयः (सुबो. १० उ.। ३७।५५)

(ग) स्वतः प्रवृतस्य मनसः प्रतिबन्धकत्वात् (सुबो. १० उ.।३८।३३).

(घ) स्वतः करणे अहंकारो भवति (सुबो. १० उ।४०।६३).

(ङ) निरालम्बो यथालोके स्थान भ्रष्टो निगद्यते हरेः कृपा विशिष्टोपि गुरुहीनस्तथैव हि (सुबो. ११।३।२१ का. १)

ऐसे अन्य भी अनेक वचन यहां उपलक्षणविधया विषय वाक्य माने जा सकते हैं.

संशय यहां यह होता है कि "सेवा कृतिर्गुरोराज्ञा" वचन में विधिमुखसे गुरु-आज्ञा के अनुसार ही सेवा कर्तव्य है यह जैसे दिखलाया गया है वैसे ही क-ख-ग-घ-ङ-चिन्हांकित वचनों में सेवा या पूजा में स्वतः प्रवृत्त होनेवाले की निन्दा भी की गई है. अतः स्वतः सेवा की निषिद्धता तो सिद्ध होती ही है. अतः गुरूपदेश या गुर्वादेश के बिना स्वतः भगवत्सेवा में प्रवृत्त हो जाना महापराध है. इसलिये पूर्वाधिकरण में "तदभावे" वचन का जो तात्पर्य वर्णित हुआ वह असंगत है. तब उसे पुष्टिमार्गीय उपदेश मानने के बजाय क्या मर्यादा मार्गीय उपदेश ही मान लेना उचित नहीं होगा ?

(क) पूजारिपीठवाद का पूर्वपक्ष यहां यों है कि "तदभावे स्वयं वापि . . . " वचन को पुष्टिमार्गीय उपदेश मानने पर न केवल पूर्वोदाहृत अनेक वचनों के साथ विरोध उपस्थित होगा प्रत्युत इसे प्रकाशित या प्रचारित करने पर पुष्टिमार्गानुयायी जनसमाज जब पुष्टिमार्ग में दीक्षित होना चाहेगा तब दीक्षादाता गोस्वामी में कृष्णसेवापरता–दम्भादिरहितता–श्रीभागवततत्त्वज्ञता निश्चित करना चाहेगा. और कहीं उसमें कुछ न्यूनता दिखलाई दी तो "तदभावे स्वयं वापि" की अनुज्ञा का बहाना बना कर सभी लोग स्वच्छन्दता फैला देंगे. और तब यह अपना मार्ग बड़ी ही विषम स्थिति में घिर जायेगा. अतः ऐसे वचन को मर्यादामार्गीय उपदेश मानना ही श्रेयस्कर है. अथवा इस वचन की चर्चा ही न छेड़ना सर्वाधिक श्रेयस्कर है.

यह पूर्वपक्ष पुष्टिमार्ग के उभयविध कल्याणों (?!) की भावना से प्रेरित होकर श्री महाप्रभु के सिद्धान्तों में निष्ठा रखनेवाले पुष्टिमार्गीयों की सच्ची निष्ठा के अपहारी पूजारिपीठवादिओं के सर्वविघ्नहर्तालाल अधिवक्ता के पूर्वपक्षार्थ अधिवचन हैं.

(ख) कुछ अन्य पूजारिपीठवादी ऐसा भी पूर्वपक्ष उपस्थापित करते हैं कि "तदभावे स्वयं वापि" वचन की आवरणभंग व्याख्या में श्रीपुरुषोत्तमजी ने सुस्पष्टतम शब्दों में यह खुलासा दे दिया है कि श्रीमहाप्रभु के बाद कलियुग के प्रबल होने के कारण श्रीमहाप्रभु के वंशजों में दम्भादिरहित होकर श्रीकृष्णसेवा में तत्पर होने एवं आचार्योचित शास्त्रों के अध्ययन द्वारा श्रीभागवततत्त्वज्ञ होने की लायकात रह नहीं जायेगी. अतः स्वमार्गमें गुरू या आचार्य तो केवल श्रीमहाप्रभु ही हो सकते हैं–अन्य कोई नहीं. श्रीप्रभुचरण ने भी अतएव कहा है

"श्रीमद्वल्लभनामधेयसदृशो भावी न भूतोस्त्यपि" (स्फु. कृ. प्रे. स्तो. ५). अतएव अपने यहां नाम के साथ 'आचार्य' जोड ने की रीति प्राचीन नहीं है. स्वयं श्रीगोपीनाथप्रभुचरण, श्रीविट्ठललेश प्रभुचरण; या उनके आत्मजों में से किसी ने भी अपने नाम के साथ 'आचार्य' पद जोडा नहीं था. आज भी बहुप्रचलित शब्द तो "गोस्वामी बालक' ही है–'. . . आचार्य' नहीं. अतः गोस्वामी बालक में कृष्णसेवापरता दम्भादिरहितता या भागवततत्त्वज्ञता हो या न हो कुछ भी अन्तर नहीं पडता. क्योंकि "बालक सब ब्रह्म जानिये"– "श्रीमद्वल्लभ वंश में सब ही वल्लभ रूप"–"महा अलौकिक अग्निकुल सब"–"अस्मत्कुलं निष्कलंकम्" आदि वचनों के आधार पर कोई बालक देवद्रव्यादी भी बन जाये तो निन्दा या दोषबुद्धि नहीं करनी चाहिये. क्योंकि श्रीमहाप्रभु ने भी स्पष्ट आदेश दिया है कि "दोषाः . . . न मन्तव्याः कथञ्चन" (सि. र. २-३). क्योंकि अपना तो पुष्टिमार्ग है जहां दया भवैया का भी उद्धार हुआ है तथा गुलाबदास गुलाबखां बन गये तब भी उद्धार हुआ है. तो क्या निजवंश देवलक पूजारि बन जाये तो पुष्टिप्रभु या पुष्टिमहाप्रभु उद्धार नहीं करेंगे ? इतना असमर्थ अपने आराध्य को अथवा आचार्य को जो मानते हों उन्हें मार्ग त्याग कर अन्य मार्ग का आश्रयण करना चाहिये ! कथमपि ऐसे वचनों का प्रकाश-प्रचार तो करना ही नहीं चाहिये कि जिससे निष्कलंक कुल पर किसी भी तरह का कलंक मार्गविरोधी लोग प्रचारित करने लग जायें !

आचार्यपीठवाद का उत्तरपक्ष यहां यह है कि "सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम्" (नवरत्न ७) वचन तथा इसकी श्री प्रभुचरणकृत व्याख्या के अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि गुरु-आज्ञा के अनुसार सेवा करना मुख्य कल्प है. गुरुआज्ञा, परन्तु, अपरिहार्य नहीं है. अतएव अनुकल्पतया बिना गुरुआज्ञा के भी सेवा में प्रवृत्त हुआ जा सकता है. स्वयं श्रीमहाप्रभु भी अतएव "बाधनं वा हरीच्छया अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम्" (नवरत्न ७) तो कहते ही हैं. प्रभुचरण ने भी स्पष्टीकरण तो दिया ही है कि "विकल्पेन अबाधनम् इति अर्थः एवं सति गुर्वाज्ञायाः अबाधने बाधने वा सेवैव मुख्या यतः अतः तथैव स्थेयम् इति आहुः 'अत' इति. एवं सति पर्यवसितं सुखमेव इति आशयेन 'सुखम्' इति उक्तम्" (नवरत्न ७). इससे सिद्ध होता है कि स्वमार्ग में भगवत्सेवा की प्रधानता है गुरुआज्ञा के अबाध या बाध की नहीं. अन्तर केवल इतना ही है कि अबाध प्रमुख एवं प्रथम कल्प है जबकि बाध गौण एवं द्वितीय अर्थात् अनुकल्प है. इसीका निरूपण श्रीप्रभुचरण ने "गुर्वाज्ञायाः अबाधनं यथा भवति तथा सेवाकृतिः पूर्वम् अपेक्षिताः एवं वर्तमानानां कदाचिद् विशेषतः भगवदाज्ञा चेद् गुर्वाज्ञाविरुद्धा तदा तथा कार्यम्" व्यवस्था देकर समझाया है.

भगवदिच्छाका ज्ञान कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न का खुलासा यद्यपि श्रीप्रभुचरण ने नहीं दिया है परन्तु विवृति-प्रकाशकार श्रीपुरुषोत्तमजी ने तो दिया ही है. यथा "जिन्हें भगवत्सानुभाव हो उन्हें तो स्वतः ही भगवदिच्छा भी ज्ञात हो सकती है. परन्तु जिन्हें सानुभाव नहीं उन्हें फलबल से भगवदिच्छाका अनुमान करते रहने चाहिये. अतः यथाधिकार भगवदिच्छा के बोध द्वारा गुरु आज्ञा के बाध करने पर स्वधर्महानि नहीं होती. अतएव नेत्र मूंद कर राजभोग के समय प्रभु की पंखा सेवा करनेवाले बड़े रामदासजी को जब भगवदाज्ञा हुई कि "नेत्र खोल कर दर्शन करो !" तो भी उन्होंने नेत्र नहीं खोले यह कह कर कि गुरुआज्ञा नहीं है इससे प्रभु

प्रसन्न हुए" (पुरुषोत्तमजी कृत विवृतिप्रकाश ७) इससे सिद्ध होता है कि स्वसुखार्थ गुरु आज्ञा का बाध उचित नहीं है परन्तु भगवत्सुखार्थ गुरु आज्ञा के भंग द्वारा भी भगवत्सेवा का निर्वाह तो कथमपि अनुचित नहीं हो सकता है. यह पुष्टिसृष्टि भगवत्सेवार्थ ही है–गुरुआज्ञा के अबाधनार्थ या बाधनार्थ नहीं.

पुष्टिमार्ग के उभयविध कल्याणों की भावना से प्रेरित स्वमार्ग की सच्ची निष्ठा के अपहारी तथा पूजारिपीठवाद के सर्वविघ्नहारीलाल अधिवक्ता के अधिवचन ऐसे भी हो सकते हैं–'घर में ही सेवा करना अनिवार्य नहीं है. क्योंकि श्रीपुरुषोत्तमजी ने "गृहे स्थित्वा" का अर्थ– "गृहे गृहस्थाश्रमे स्थित्वा" किया है. अतः स्वयं के घर के अलावा अन्यत्र सेवा अकरणीय है ऐसा नहीं है. क्योंकि इस विधान का वास्तविक अर्थ है : गृहस्थाश्रम में रह कर, घर छोडे बिना अर्थात् संन्यास लिये बिना, प्रभुसेवा करनी चाहिये. अन्यथा प्रभुचरण के काल से अद्यावधि पुष्टिमार्गीय सेवा गृहसेवा के ही रूप में होती. विशाल मन्दिरों में प्रचलित विस्तृत सेवा प्रकार होता ही नहीं. और भाषाशास्त्र के अनुसार 'गृह' और 'मन्दिर' समानार्थी शब्द हैं."

श्रीमहाप्रभु की कृपा है कि पूजारिपीठवाद के ऐसे अधिवक्ता पुष्टिमार्ग में एकाधिक नहीं हैं, अन्यथा "हुए तुम दोस्त जिसके दुश्मन उसका आस्मां क्यूं हो" उक्ति चरितार्थ हो जाती !

श्रीप्रभुचरण के काल से वर्तमान काल पर्यन्त सेवा यदि विशाल मन्दिर में विस्तृत प्रकार से चलती आ रही है और 'मंदिर' और 'गृह' यदि समानार्थी शब्द हैं तो कुल बात का मतलब इतना ही निकलता है कि श्रीप्रभुचरण के काल से वर्तमान काल पर्यन्त पुष्टिमार्ग में जैसे आर्थिक दृष्टि से असम्पन्न लोगों के छोटे-छोटे घरों में सेवा चलती आ रही है ऐसे ही आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न गोस्वामी महाराजों के विशाल घरों में भी सेवा विस्तृत प्रकार से चली आ रही है. प्रत्येक अवस्था में घर में ही सेवा चली आ रही है सार्वजनिक स्थल पर नहीं. क्योंकि 'मन्दिर' और 'गृह' जब समानार्थी शब्द हैं तो जो सेवा, श्रीप्रभुचरण के काल से वर्तमान काल पर्यन्त, घर में ही चली आ रही थी तो अब उसे सार्वजनिक मन्दिर में विकृत करके आचार्य को पूजारि क्यों बनाया जा रहा है ?

टेक्स के भय से ? तो इसका मतलब हुआ कि आज के गोस्वामी बालक (!) को सिद्धान्त के बजाय सम्पत्ति का मोह अधिक बलवान है !

सेवा के आकार-प्रकार की सुरक्षा के लिये ? तो इसका मतलब हुआ कि सेव्य में प्रधान भाव नहीं है. उस पर से अपना स्वत्व छोडकर भी, सेवा के केवल आकार-प्रकार को निभाने के लिये पूजारि होना पसन्द किया जा रहा है !

गृहसेवा की बात करने या बरतने पर भेंट-चढावा करने वाली जनता से सम्पर्क टूट जायेगा. इसलिये ? तो इसका मतलब हुआ कि स्वसिद्धान्त स्वसेव्यस्वरूप तथा स्वाभिमान सबको ताक पर रख केवल अपनी अयोग्यता को भगवद्भक्ति भगवत्सेवा या भगवन्मनोरथ का स्वांग पहराना है !

नये कानून के आगे चलती नहीं इसलिये ? तो सिद्धान्तोपदेश पर तो कानूनी प्रतिबन्ध नहीं लगा है फिर सिद्धान्त को प्रकाशित और स्वीकार करने में आपत्ति क्या है ?

गृहसेवा अथवा गृहस्थसेवा अथवा गृहस्थाश्रमिकसेवा के प्रभेद की बात तो उभयविध कल्याण (!) प्रेरित होने पर भी सिद्धान्तग्रन्थों के अज्ञान से ही प्रेरित है. इसे विभिन्न टीकाकारों द्वारा प्रदत्त व्याख्या के अवलोकन द्वारा सरलता से समझा जा सकता है–

आद्य तृतीय पीठाधीश श्रीबालकृष्णजी : "बीजस्य दार्ढ्यं यः प्रकारः स उच्यते. 'तु' शब्दः पूर्वभेदकः, यत् **स्वगृहे** स्थित्वा . . . भजेत्" (भ. व. २)

आद्य चतुर्थ पीठाधीश श्रीगोकुलनाथजी : " 'तु' शब्देन एतदतिरिक्त प्रकारान्तरव्युदासः उक्तः **स्वमार्गीयभगवद्भजनं गृहस्थित्यभावे न सम्भवतीति पूर्वं गृहस्थितिमेव** आहुः 'गृहेस्थित्वा' इति. भगवद्भजनानुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः कृष्णं भजेत्" (भ. व. २)

आद्य पञ्चम पीठाधीश श्री रघुनाथजी : "गृहे स्थित्वा कृष्णं भजेद् इति अन्वयः" (भ. व. २).

द्वितीय पीठाधीश श्रीकल्याणरायजी : "बीजरूपस्य दृढतासिद्धयर्थम् अयं वक्ष्यमाणः प्रकारः इममेव आहुः, **गृहस्थितेः** भजनानुकूलत्वात्" (भ. व. २).

द्वितीय पीठाधीश श्रीहरिरायजी : "यथा येन प्रकारेण चेतःतत्प्रवणात्मिका भक्तिः व्यवसनपर्यन्तं वृद्धा भवति सर्वथा तथा तेन प्रकारेण यः उपायः स कथ्यते. उपायस्तु सएव अत्र तनुवित्तजसेवनम्. त्यागात्यागविभेदेन **गृहे** भक्तगृहे तथा, बीजभावः प्राथमिको यतः सेवा प्रवर्तते स्वामिसेवकभावातदाढर्ढ्याद् वृद्धिसम्भवः अथवा त्यागपक्षेन कृतश्रवणकीर्तनाद् अनायासेन सुदृढभक्तिप्राप्तिः न संशय, अत्यागपक्षे क्रमशः भक्तिवृद्धिः इह उच्यते. अतः हि बीजदार्ढ्यस्य प्रकारः अत्र निरूपितः **गृहस्थितिः**" (भ. व. २).

श्रीगोपेश्वरजी : " 'तु' शब्दः प्रकारान्तरव्यवच्छेदकः बीजस्य भगवद्भावस्य दार्ढ्य जनकः प्रकारः भगवद्भजनलक्षणः . . . तमेव आहुः **'गृहे** स्थित्वा' . . . इति" (भ. व. २).

श्रीवल्लभजी : "पाषण्डित्वाभावाय स्वधर्मतः वर्णाश्रमधर्मेण **गृहे** स्थित्वा . . भजेत् सेवेत." (भ. व. २).

अज्ञातनामा विवृतिकार *"अनुकूले **गृहे** स्थित्वा" (भ. व. २).

श्रीवल्लभात्मज श्रीबालकृष्णजी : "यस्मिन् बीजभावः दृढः तत्क्रिया तु इयं–यद् **गृहे स्थित्वा अनुकूले गृहे स्थित्वा** . . . कृष्णं सदानन्द भजेत्" (भ. व. २).

श्रीगिरधरजी "स्वगृहएव स्थितः सन् कृष्णं सदानन्दं पुरुषोत्तमं भजेत् सेवेत" (भ. व. २).

---

*(किन्हीं महानुभावों के अनुसार आद्य द्वितीय पीठाधीश श्रीगोविन्दरायजी).

इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रीगोकुलनाथजी श्रीगोपेश्वरजी तथा श्रीगिधरधरजी स्पष्टतम शब्दों में स्वगृह के अलावा इतरत्र की गई सेवा को सेवा ही नहीं मानते. अवशिष्ट भी सभी व्याख्याकार 'गृह' का अर्थ तो घर ही ले रहे हैं. उनमें द्वितीय पीठाधीश श्रीहरिरायजी के अनुसार अपने घर के अलावा इतरत्र केवल श्रवण कीर्तनार्थ जाना चाहिये और सेवा तो स्वगृह में अपने ही तन तथा अपने ही धन से करनी चाहिये. इससे सिद्ध होता है कि विशाल सार्वजनिक मन्दिर में विस्तृत आकार-प्रकार की सेवा का ढोंग करनेवाले पूजारिओं की तनुजा सेवा तथा दर्शनार्थिओं की वित्तजा सेवा का समर्थन द्वितीय पीठाधीश श्रीहरिरायजी तो करते नहीं हैं. फिर तो सिद्ध हो गया कि अकस्मात् सच्ची निष्ठा के अपहारी पूजारिपीठविघ्नहारी लाल अधिवक्ता कल्याणप्रेरित होकर मार्ग का अकल्याण ही करना चाहते हैं. अपठितपूजारिता किस गर्त में पुष्टिमार्ग को अपने क्षुद्र स्वार्थवश धकेलना चाहती है उसका यह प्रमाण है.

जहां तक श्रीपुरुषोत्तमजी ने जो 'गृह' का अर्थ गृहस्थाश्रम लिया है इसका प्रश्न है तो इतना तो स्पष्ट ही है कि विवाहपूर्व तथा वैधुर्योत्तर भी पुष्टिमार्ग के अनुगामी या उपदेशक गृहस्थाश्रमी न होने पर भी सेवा तो कर ही सकते हैं. इससे सिद्ध होता है कि गृहस्थाश्रमी होना आवश्यक नहीं है. ब्रह्मचारी-वानप्रस्थ यति भी सेवा तो कर ही सकते हैं. यह स्वयं श्री महाप्रभु ने "ब्रह्मचारिप्रभृतीनामपि सेवकसाधनसम्पत्तौ एतत् कर्तव्यम्" (सर्वनि. प्र. २४६) विधान के द्वारा स्वीकारा है. अतः श्रीपुरुषोत्तमजी के 'गृहस्थाश्रमी' अर्थ में भी "गृहे तिष्ठति इति गृहस्थः, गृहस्थस्य आश्रमः गृहस्थाश्रमः तद्वान्: गृहस्थाश्रमी" अर्थ ही फलित होता है. कुटीचक-बहूदक संन्यासी भी गृह में रहता होने से सेवा कर सकता है, किसी भी सूरत में सेवा के विस्तृत आकार-प्रकार के ढोंग के तहद "तनुवित्तजा सेवा को स्वगृह में भावसंगोपन की गरिमा के साथ निभाने" का सिद्धान्त तोड़ कर आजीविकार्थ तनुजा सेवा करने अथवा दर्शनार्थ वित्तजा सेवा कराने के लिये व्यावसायिक भोंडे प्रदर्शन चलानेवाले सार्वजनिकीकरण में विकृत नहीं किया जा सकता है. जो करते हैं उनमें गुरुत्वाधिकार लुप्त होने से ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा प्रदान करने का अधिकार छिन जाता है.

"तदभावे स्वयं वापि . . . " वचन को मर्यादामार्गीय उपदेशः मानने की जो बात कही वहां यह ज्ञातव्य है कि "अथापि . . . धर्मसार्गेन स्थित्वा कृष्णं भजेद् बुधः श्रीभागवतमार्गेण. . ." (सर्वनि. २१५) से प्रारम्भ "एतन्मार्गद्वयं प्रोक्तं गतिसाधन संयुतम्" (सर्वनि. २५६) तक की कारिका में पुष्टिभक्ति तथा पुष्टिप्रपत्ति का उपदेश है. ऐसी स्थिति में तदन्तर्गत आते "मार्गोऽयं सर्वमार्गाणामुत्तमः परिकीर्तितः यस्मिन् पातभयं नास्ति" (सर्वनि. २२२) तथा "सर्वथा चेद् हरिकृपा न भविष्यति यस्य हि तस्य सर्वमशक्यं स्यान्मार्गेऽस्मिन् सुतरामपि, कृपायुक्तस्य तु यथा सिध्येत्कारणमुच्यते . . . तत्र आदितः साधनानि आह 'कृष्णसेवापरम्' इति . . . सच दुर्लभइति तेनापि वक्तव्यं प्रकारम् आह 'तदभावे . . . ' इति" (सर्वनि. २२६-२२८) यह मध्यपाती उपदेश सहसा कैसे मर्यादामार्गीय बन जायेगा? और यदि फिर भी मानते ही हैं कि मर्यादामार्गीय उपदेश है तो स्वीकारना पडेगा कि यह मर्यादामार्ग ही, श्रीमहाप्रभु के अनुसार, सर्वोत्तम है तथा भगवत्कृपैकलभ्य है.

साथ ही साथ श्रीपुरुषोत्तमजीविरचित् आवरणभंग को अप्रामाणिक न मानते हों तो और भी कई बातें सिद्ध हो जाती हैं कि सर्वनिर्णय के इस प्रकरण में वर्णित (१) इस मार्ग के गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण ही हैं अन्य कोई नहीं. (२) "तदभावे स्वयं वापि . . . ." वचन को श्रीमहाप्रभु की आज्ञा मान कर भगवत्सेवा में प्रवृत्त होने वाले पर स्वेच्छया अथवा गुरु की आज्ञा के बिना स्वतः प्रवृत्त होने का अपराध लागू नहीं होता. अर्थात् ऐसे आचरण पर धर्माभास होने का आरोप भी प्रामाणिक नहीं है. (३) श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में जो गुरु-आज्ञा के बिना स्वतः धर्माचरण करनेवाले को 'मूढ' कहा गया है, वह बात भी श्रीमहाप्रभु को गुरु मानकर सेवामें प्रवृत्त होनेवाले पर लागू नहीं होती. (४) इस तरह श्रीमहाप्रभु के ग्रन्थों में उपलब्ध आज्ञा, जो यद्यपि सामान्यतया पुष्टिजीवों को उद्देश्य करके दी गई है, तदन्तर्गत मार्गरुचिवश अपनी पुष्टिजीवता के निश्चय होने पर विशेषतया "मुझे भी श्रीमहाप्रभु निजग्रन्थों द्वारा साक्षाद् भगवत्सेवा की आज्ञा दे रहे हैं" ऐसी भावना रख कर सेवा का प्रारम्भ कर देना चाहिये तथा सेवा के प्रकार के बारे में कभी-कुछ जिज्ञास्य हो तो सिद्धान्ताभिमत सेवा के प्रकार में तत्पर भगवदीयों से पूछ-समझ लेना चाहिये यह भी सूचित होता है—"(१) एतन्मार्गीय—गुरुत्वं स्वस्मिन्नेव नियच्छन्त आहु 'सच' इत्यादि. (२) 'तदभावे' इति आज्ञापनाद् इदं ज्ञात्वा करणे 'यस्त्विच्छया कृतः पुंभिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्' इति आभासत्वाभावः सेवायाः. (३) तृतीयस्कन्धोक्तमौढ्याभावश्च सेवाकर्तुः साधितः. (४) स्वयमेव सेवाकरणेपि प्रकारविशेषसन्देहे तादृशाः यदि मिलन्ति तदा प्रकारांशे पृष्टव्याः इत्यपि सूचितम्" (सर्वनि. आ. भं. २२८).

इससे सिद्ध होता है कि गुरु की अपरिहार्यता दिखानेवाले शास्त्रवचनों तथा श्रीमदाचार्यवचनों का "तदभावे स्वयं वापि . . ." अनुकल्प में बाध नहीं है. क्योंकि "कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरं श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुरादरात्" वचन में सामान्य व्यवस्था द्योतित हुई है मुख्यकल्पतया. जबकि "तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र चस्थितम्" वचन में विशेष व्यवस्था द्योतित हुई है अनुकल्पतया. कथमपि यह नहीं भूलना चाहिये कि इस अनुकल्प को श्रीमहाप्रभु ने "अयमेव अस्य मार्गस्य प्रकारः उत्तमः" कहकर बिरदाया है.

ऐसी स्थिति में "श्रीमद्वल्लभाचार्य के दार्शनिक आचार की परम्परा" ग्रन्थ के लेखक ने श्रद्धातिरेकवश जो पूर्वोदाहृत क ख ग घ ङ जैसे वचनों का अवलम्बन करके गुरु की अपरिहार्यता के बारे में जो बातें बढा-चढाकर लिख दी हैं उनका कोई भी महत्त्व रह नहीं जाता है. क्योंकि वे सारे वचन गुरु-आज्ञा के अभाव के सन्दर्भ में हैं जबकि यहां श्रीमहाप्रभु स्वयं ही स्वयं के ग्रन्थों को गुरु रूप में प्रतिष्ठापित कर रहे हैं.

एतावता सिद्ध हुआ कि "सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया" तथा "स्वतः करणे हि सर्वत्र दोषाः" "स्वतः प्रवृत्तस्य मनसः प्रतिबन्धकत्वात्" आदि वचनों का परस्पर किसी तरह का कोई विरोध "तदभावे स्वयं वापि . . . परिचर्यां सदा कुर्यात्"—वचन के साथ नहीं है. अतः दोनों में से किसी तरह के वचन को निरर्थक अपुष्टिमार्गीय मानने का कोई हेतु नहीं है.

जहां तक इन वचनों को प्रकाशित करने पर अनुयायिजनसमाज दीक्षादाता में कृष्णसेवापरता दम्भादिरहितता तथा श्रीभागवततत्त्वज्ञता की परख करना चाहेगा, जैसी आपत्तिओं

का प्रश्न है तो यहां आवरणभंग में तो श्रीपुरुषोत्तमजी ने यह स्पष्टतम शब्दों में स्वीकारा है. कि शिष्य को दीक्षादाता बनने वाले की परीक्षा करनी चाहिये तथा गुरु को दीक्षाग्रहीता बनने वाले की परीक्षा करनी चाहिये. अन्यथा अन्धानुकरण होगा–"अतादृस्य लोकानुगतपशु रूपत्वात् तादृशानुसरणे अन्धानुगान्धवद् उभावपि पतेताम्" (सर्व नि आ. भ. २२७) स्वच्छन्दता तो शिष्यों में फैले कि गुरुओं में फैले उभयत्र दोषावह है. अतः परस्पर मिल जुल कर ही अन्यतर में फैलती स्वच्छन्दता को रोका जा सकता है. दोमे से किसी एक की ही स्वच्छन्दता को रोकने पर स्वमार्ग के वास्तविक हित की सम्भावना क्षीण ही हैं.

इस तरह सच्ची निष्ठा के अपहारी पूजारिपीठविघ्नहारीलाल अधिवक्ता के पूर्व पक्ष का निरसन हुआ. अब द्वितीय (ख) पूर्वपक्ष का विमर्श कर लेना है.

वहां यह जो कहा गया कि कलियुग की प्रबलता के कारण आचार्यवंशजों में दम्भादि रहित होकर कृष्णसेवा करनी तथा श्रीभागवतानुसारी उपदेश द्वारा अन्यों से करवानी, इन गुणों को धारण कर पाने की लायकात न रहने से श्रीमहाप्रभु को ही गुरुबुद्धया देखना चाहिये, तो यह तो उचित ही है. परन्तु इसके कारण आचार्यवंशजों को सिद्धान्तविपरीत्येन सेवा की अनुज्ञा नहीं मिल सकती. अतः निजगृह में निजतन तथा निजधन द्वारा भावसंगोपन की गरिमा के साथ जो कृष्णसेवा नहीं निभा पाते उन्हें केवल आचार्यवंशज होने के नाते भगवद्रूप नहीं माना जा सकता. क्योंकि जहां गुरुत्व मान्य हो वहीं भगवद्बुद्धि शास्त्रविहित है. केवल गुरु वंशज होने के कारण न तो गुरुत्व सिद्ध होता है और न भगवत्त्व. अतएव "आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते . . . " (मनु. स्मृ. २।२४७) में गुणान्वित होने पर गुरुपुत्र में गुरुवद् बुद्धि का विधान है. अन्यथा जब गुरुत्व ही न हो तो भगवद् बुद्धि की कथा हो अप्रासंगिक बन जातीहै. इससे "बालक सब ब्रह्म जानिये" जैसे वचनों का भी सच्चा तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है.

रही बात दया भवैया के उद्धार की अथवा गुलाबदास के गुलाब खां बनने की तो यह और ऐसी वार्तायें में भगवत्सामर्थ्य के उपदेशार्थ हैं, न कि सिद्धान्तविरुद्ध आचरण की अनुमति प्रदान करने के लिये. अन्यथा शिशुपाल को सौ गाली देने पर भी मुक्ति मिली तो व्यर्थ ही भगवान का गुणगान ही क्यों करना–गालीप्रदान ही क्यों नहीं. फिर गोस्वामी रहने की भी क्या आवश्यकता है क्यों सभी गुलाम रसूल नहीं बन जाते ? एतावता यह सिद्ध हुआ कि सिद्धान्तानुरोध करनेवालों को सिद्धान्तविरुद्ध आचरण करनेवालों के भी उद्धार की भगवत्सामर्थ्य में संशय-शंका नहीं है. परन्तु जैसे भगवत्कृपापात्रता का निदर्शन भगवद्भक्ति में परिलक्षित होता है वैसे ही भगवदुद्धारसामर्थ्य भी दैवी जीवों में उत्सर्गतया दैवी वासना के स्वरूप में ही परिलक्षित होती है. अपवाद को सिद्धान्त नहीं माना जा सकता है.

इससे सिद्ध हुआ कि "तदभावे स्वयं वापि . . ." वचन को भूल जाने से ही सम्प्रदाय में महती हानि हुई है. प्रकट होने पर तो उपदेशक तथा अनुयायी दोनों वर्ग को ही इससे लाभ ही होगा. आज तनुवित्तजा सेवा जो उपदेशक तथा अनुयायिजन समुदाय दोनोंका ही कर्तव्य था वह बिखर गया है. सिद्धान्तविरुद्धतया उपदेशक वर्ग तनुजा सेवा परायण देवलक पूजारि बन गया है तथा अनुयायिजनसमुदाय वित्तजा सेवा परायण केवल दर्शनार्थी बन कर रह गया है.

एक से दूसरे मन्दिरों में भटक रही वैष्णव जनता मार्ग को अपसिद्धान्त के गर्त में धकेलने के लिये सन्नद्ध है.

स्वधर्मनिष्ठासहित रहने पर इतरमार्गी हमारी निन्दा भी करते हों तो क्या हानि है और स्वधर्मनिष्ठारहित होने पर इतरमार्गीय हमारी प्रशंसा भी करते हों तो क्या लाभ है ?

सूत्र

अनेक वचनों के आधार पर गुरुमुख से ब्रह्म सम्बन्ध मन्त्रकी दीक्षा लिये बिना भगवत्सेवार्थ आवश्यक सर्व दोषों की निवृत्ति असम्भव होने से "तदभावे स्वयंवापि . . ." वचनोक्त कल्प अनुसरणीय नहीं ऐसा सोचना भी अनुचित है क्योंकि इन्हीं वचनों की अन्यथोपपत्ति भी सम्भव है (१।६).

भाष्य

प्रस्तुत अधिकरण के विषयवाक्य अनेक लिये जा सकते हैं, श्रीमहाप्रभु के श्रीप्रभुचरण के तथा परवर्ती व्याख्याकार, वार्तिकार एवं वचनामृतकार महानुभावों के भी.

यथा–

(कं) ब्रह्म सम्बन्ध करणात् सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषवृत्तिर्हि . . . अन्यथा सर्व दोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन" (सि. र.)

(ख) निर्दुष्टं हि भगवान् गृह्णाति (सुबो. १० उ.।४।३)

(ग) शुद्धैरेव भगवत्सेवा कर्तुं शक्यते (सुबो. १० पू.।२।३४)

(घ) आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनार्हाः न इतरे (नवरत्न विवृति १)

(ङ) ब्रह्मसम्बन्धकरणं नाम एतन्मार्गीयाचार्य द्वारा भगवन्निवेदनम् (श्रीगोकुल नाथजी कृत सि. र. विवृति २)

(च) ब्रह्मसम्बन्धो नाम स्वमार्गाचार्यद्वारा भगवति निवेदनम् (श्रीकल्याणरायजी कृत सि. र. विवृति २)

(छ) आत्मनिवेदनं हि सेवाधिकारार्थं संस्काररूपतया भगवतो अभिप्रेतम् (श्रीपुरु. कृत नव. वि. प्र. २)

(ज) निजमार्ग में अंगीकार भये बिना भगवत्सेवा में अधिकार न होई (निज वार्ता)

(झ) अंशावतार के भजन में सब को अधिकार पूर्ण पुरुषोत्तम के भजन में समर्पण मंत्र के पीछे अधिकार (श्रीद्वारिकेशजीकृत भावभावना)

(ञ) तथा अर्वाचीनानाम् अतथात्वेपि तन्मूलभूतेषु आचार्येषु अनुग्रहात् तदनुसारिणः तारयसि (सुबो. प्रका. १० पू. ।२।३१).

(ट) अतएव साक्षात् परम्परया वा भगवन्मुखोक्तं गुरुमुखात् श्रुतम् . . पठितस्य हि अनुवचनम् आवश्यकम् (सुबो, १।१।१३)

इन और ऐसे अन्य भी सभी वचनों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि सेवाकर्ता तत्सहयोगी सेवोपयोगिस्थल तथा सेवोपयोगिद्रव्य आदि सभी व्यक्ति तथा वस्तुओं की सेवार्थ अपेक्षित शुद्धि ब्रह्मसम्बन्ध लिये बिना हो ही नहीं सकती. भगवान् स्वयं दोषरहित एवं शुद्ध हैं अतः निर्दुष्ट एवं शुद्ध व्यक्ति एवं वस्तु के सेवा में विनियोग होने पर ही उसे स्वीकारते हैं अन्यथा नहीं. एतन्मार्गीयाचार्य के साक्षात् मुख से श्रवणोपदेश के बिना ब्रह्मसम्बन्ध शक्य नहीं. अतः आत्मनिवेदन या ब्रह्म सम्बन्ध के बिना सेवा का अधिकार प्राप्त ही नहीं होता. ब्रह्मसम्बन्ध के बिना की गई सेवा पुरुषोत्तमपर्यवसायिनी भी नहीं हो सकती. अतः आधुनिक मार्गाचार्यों में कृष्णसेवापरता दम्भादिरहितता तथा श्रीभागवततत्त्वज्ञता हो या देवलक. पूजारिता हो परन्तु ब्रह्मसम्बन्ध तो भगवत्सेवाधिकार-सम्पादनार्थ श्रीमहाप्रभु के वंशजों से ही लेना अनिवार्य है. ऐसा प्रतीत होता है.

संशय यहां यह होता है कि तब इन वाक्यों की "तदभावे स्वयं वापि ..." वचन से संगति बैठ नहीं पायेगी. तब क्या इन सभी वाक्योंको श्रुतार्थ से भिन्न किसी तात्पर्य का प्रतिपादक मानना चाहिये अथवा "तदभावे स्वयं वापि . . ." वाक्य को श्रुतार्थ से भिन्न किसी तात्पर्य का प्रतिपादक मानना चाहिये.

पूजारिपीठवाद का पूर्वपक्ष यहां यह है कि अनेक वाक्यों से विरुद्ध होने से इस एक वाक्य का ही श्रुतार्थ से भिन्न कुछ तात्पर्य खोज लेना चाहिये, "भूयसाम् अनुग्रहः न्याय्यः" नीति के अनुसार.

आचार्यपीठवाद का उत्तरपक्ष यह है कि श्रीमहाप्रभुविरचित सुबोधिनी (२।९।३२) के अनुसार जब श्रुतिओं में परस्पर इस तरह का विरोधाभास कभी प्रकट या प्रतीत होता हो तो "भूयसामनुग्रहो न्याय्यः" नीति उचित नहीं है. आपस में सींग मारनेवाली दो गायों में से किसी भी एक गाय को दण्डे की मार से भगा कर पारस्परिक कलह मिटाने की रीति सच्चे गोभक्त की कभी हो नहीं सकती. अतः परस्पर विरोधाभासी वाक्यों का प्रामाण्य समप्रधान मान कर ही अर्थात् उभयविध वाक्यों तुल्य सम्मान करते हुए विरोधोपशम का प्रयास करना चाहिये–

प्रत्यक्षादृष्टविषये पदार्थाः श्रुतिगोचराः ।
परस्परं विरुद्धास्ते नैकशेषं भवन्ति हि ।।
उभयोः वैदिकत्वेन कः स्यादत्र नियामकः ।
विचारकाणां बुद्धिस्तु सोपजीव्या श्रुतेः सदा ।।

ऐसी स्थिति में श्रीमहाप्रभु अथवा श्रीप्रभुचरण के समानार्थप्रतिपादक बहुसंख्य वाक्यों का अकुण्ठितप्रामाण्य तथा इनसे भिन्नार्थ प्रतिपादक वाक्यों का कुण्ठित–प्रामाण्य स्वीकार कर तत्त्वनिर्धारण की विचार रीति भी बाल्लभी नहीं हो सकती. जहां तक

वाक्यों के बीच प्रतीत होती विरोधाभासिता का प्रश्न है तो उसे तो अनेक प्रकार के ऊहों के आधार पर परस्पर संवादिता में बदला जा सकता है.

यथा –

(१) **उत्सर्ग-अपवादन्यायेन** श्रीमहाप्रभु के वंशज एतन्मार्गीयाचार्यों के मुख से ब्रह्मसम्बन्धमन्त्र के उपदेशश्रवण से ही सेवाधिकार प्राप्त होता है यह औत्सर्गिक नियम है. आपवादिक नियम, परन्तु, यह भी हो सकता है कि श्रीमदाचार्यचरण के ग्रन्थों में उपलब्ध वाणी की भावना ऐसी करनी चाहिये कि यह स्वयं श्रीमहाप्रभु ही अपने मुखारविन्द से ही हमें साक्षात् उपदेश दे रहे हैं. अतः श्रीमहाप्रभु में गुरुत्व की भावना रखते हुए ग्रन्थस्थ मन्त्र को उपदेशश्रवण की भावना द्वारा ग्रहण करना चाहिये. और तब सेवाधिकार सम्पन्न हुआ जान कर आचार्योपदिष्ट प्रकार से निजगृह में विराजमान भगवत्स्वरूप की तनुवित्तजा सेवा को भाव संगोपन की गरिमा के साथ करने लग जाना चाहिये.

जैसे सेव्य भगवत्स्वरूप की प्राप्ति के सिद्धान्त को समझाते हुए श्रीगोपीनाथप्रभुचरण ने उत्सर्ग-अपवाद दोनों का निरूपण किया है–

गुरुदत्तां स्वयं लब्धां भक्तैरपि सुपूजिताम् ।
व्यंगांगीमपि सेवेत यदि भावो न बाधते ।।

(सा. दी. ९०)

गुरुप्रदत्त भगवत्स्वरूप की ही सेवा करनी चाहिये यह औत्सर्गिक नियम होने से प्रथम कल्प है, स्वयंलब्ध, अन्यभक्तसुपूजित अथवा व्यंगांग स्वरूप की सेवा भी आपवादिक रूप में भावाग्रहवश अनुमत है. ऐसी रीति दीक्षा के बारे में भी स्वीकारी जा सकती है कि आचार्यवंशज रूप गुरुप्रदत्त दीक्षामन्त्र का ग्रहणनियम प्रथम कल्प है, उत्सर्गविधया. अपवादविधया, किन्तु, यह भी सम्भव है कि किसी लिखित-या-मुद्रित ग्रन्थों में से स्वयंलब्ध दीक्षामन्त्राक्षरों का, अथवा अन्य किसी गृहीतमन्त्र व्यक्ति के मुख से भी मन्त्राक्षरों का ग्रहण श्रीमदाचार्यचरण से ही साक्षात् मन्त्रोपदेशग्रहण की भावना रखते हुए प्राप्त कर लेना. एतदर्थ जिस स्वसमान व्यक्ति के मुख से मन्त्राक्षरों की प्राप्ति हुई हो उसे गुरु मानने की कोई अपेक्षा नहीं है.

इस अपवादविधि के अनुसरण का प्रसंग भी उल्लिखित "व्यंगांगीमपि सेवेत" वचन की तुलना द्वारा समझा जा सकता है. यहां खण्डित स्वरूप की ही सेवा की आज्ञा नहीं है किन्तु खण्डित स्वरूप की भी सेवा की अनुज्ञा दी जा रही है, जो स्वरूप के खण्डित होने पर भी भाव खण्डित न हो जाता हो तो. अतः स्पष्ट है कि यह उत्सर्गनियम नहीं किन्तु अपवादनियम है.

गुरु के स्वरूप घटक तीन या चार गुणधर्म श्रीमहाप्रभूक्त हैं तथा एक गुणधर्म श्रीप्रभुचरणसूचित है. अतः पुष्टिमार्गीय गुरु का सम्पूर्ण स्वरूप इस तरह दिया जा सकता है कि "कृष्णसेवापरत्वे सति दम्भादिरहितत्वे सति श्रीभागवततत्त्वज्ञत्वे सति श्रीमद्वल्लभवंशजम्", जिस व्यक्ति में चारों गुणधर्म प्रकट हों उसे ही अपना गुरु बनाना यह उत्सर्गविधि है.

अन्यथा स्वरूप घटक चारों गुणधर्मों में से एक या अधिक के अभाव में गुरुस्वरूप खण्डित हुआ समझना चाहिये. ऐसे खण्डित गुरुस्वरूप से मन्त्रदीक्षा लेनी कि नहीं इस आशंका के समाधान-तया यही कहा जा सकता है कि "यदि भावो न बाधते." यदि भाव खण्डित न हुआ हो तो ले-लें अन्यथा स्वरूपको खण्डित देख कर भाव भी खण्डित हो जाता हो उल्लिखित प्रकारसे स्वयं ही ब्रह्मसम्बन्ध ले-लें श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण को ही अपना साक्षात् गुरु मान कर.

यहां 'श्रीवल्लभवंशजत्व' स्वरूपयोग्यताधायक विशेष्यकोटी है जो श्रीप्रभुचरणोक्त–"भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत् पिता स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्यः स्मयापहः" (सर्वो. २२) इन श्रीमदाचार्य–नामों के द्वारा सूचित होता है. इसी तरह "कृष्ण सेवापरत्वे सति दम्भादिरहितत्वे सति श्रीभागवततत्त्वज्ञत्वं" फलमुखयोग्यताधायक विशेषणकोटी है, जो "कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरं श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेज्जिज्ञासुरादरात्" (सर्वनि. २२७) श्रीमदाचार्योक्त वचन से सिद्ध है. इसमें से अन्यतम गुणधर्म के अभाव में गुरुस्वरूप खण्डित हो जाता है. परिणाम रूपेण औत्सर्गिक नियम के अपवाद की अनुज्ञा मिल जाती है, यदि भाव बाधित हो रहा हो तो.

यदि इस छूट के कारण सम्प्रदाय में अव्यवस्था फैल जाने का भय लगता हो और यथाकथञ्चित् ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा का प्रदानाधिकार केवल आचार्यवंशजों में ही परिसीमित रखना हो तो वह सैद्धान्तिक नियति न होकर केवल व्यावहारिक व्यवस्था मात्र कही जा सकती है–अन्य कुछ नहीं. व्यावहारिक व्यवस्था की भी उपयोगिता इस पर निर्भर करती है कि सम्प्रदाय को इसके कारण लाभहानि में न्यूनताधिक्य क्या–कितना है.

स्पष्ट है कि निरंकुशता यदि बिन्दुसृष्टि रूप आचार्यवंशजों की स्वीकारी गई तो वे उत्पथगामी बन कर अपने आराध्य और उसकी सेवा का प्रदर्शन तथा आजीविकार्थ विनियोग करने लगेंगे. यदि नाद सृष्टिरूप साधारण वैष्णवजनता को निरंकुश रहने दिया गया तो वह भी सोचे-समझे बिना इस छूट के कारण स्वयं उत्पथगामिनी बन जायेगी या सम्प्रदाय द्वेषिओं द्वारा बनायी जा सकती है. इससे आवश्यक यही है कि कुछ भी दुराव-छिपाव रखे बिना सच्चा सिद्धान्त सभी के समक्ष प्रस्तुत कर देना चाहिये. बाकी सारी बातें बुद्धिप्रेरक श्रीकृष्ण की कृपा पर छोड़ देनी चाहिये. क्योंकि इस मार्ग को श्रीकृष्ण की कृपा के कारण प्राप्त होने वाले मार्ग होने के कारण 'पुष्टिमार्ग' कहा जाता है, न कि आधुनिक श्रीमदाचार्यवंशजों की कृपा के कारण प्राप्त होने वाले मार्ग होने के कारण.

किसी भी सूरत में मार्गदर्शक नेता का उत्तरदायित्व सिद्धान्तों की सुरक्षा के हेतु प्रमुख है बजाय कि मार्गानुयायिजनता के. अतएव "कृष्ण सेवा परं वीक्ष्य . . ." में 'वीक्ष्य' पद का स्वारस्य समझाते हुए श्रीपुरुषोत्तमजी ने यह स्पष्ट किया है कि सर्वप्रथम तो दीक्षार्थी को दीक्षादाता की परीक्षा लेनी चाहिये. अन्यथा दो अन्धे आपस में एक-दूसरे पर निर्भर होने के कारण जो न गिरता होगा उसे भी गिरा देंगे–" 'वीक्ष्य' इत्यनेन मार्गान्तराद् अत्र वैलक्षण्यं ज्ञापितम्. "ईक्षदर्शनांकनयोः". 'वि' ना च सम्यक्त्वं परीक्षणे द्योत्यते. तथाच तन्त्रे 'गुरुः परीक्षेच्छिष्यम्' इति वाक्यात् शिष्यः यथा परीक्ष्यते तथा अत्र गुरुः. नो चेद् अतादृशस्य लोकानुगत

पशुरूपत्वात् तादृशः अनुसरणे अन्धानुगान्धवद् उभावपि पतेताम्" (सर्वनि. आवरण-भंग २२७).

इस दीक्षार्थिकर्तृक गुरु परीक्षण को मान्य रखेंगे तभी इस सम्प्रदाय में आचार्योक्त विशेषण कोटी के गुणधर्मों को स्वयं में विकसित करने की भावना श्रीमदाचार्यवंशजों में भी पनपेगी. अन्यथा केवल चेला मूंडने के षड्यंत्र से तो व्यक्तिगत लाभ पूजा की स्वार्थसिद्धि ही सम्भव है परन्तु सम्प्रदाय को इससे लाभ नहीं मिल पायेगा !

(२) **कालभेद-प्रयुक्त-कर्मभेदन्यायेन** जैसे पुरा काल में कुछ विहित कर्म भी "अग्निहोत्रं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकं देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत" इस कलिवर्ज्यप्रकरणोक्त वचन के आधार पर कलियुग में निषिद्ध माने गये हैं. ठीक उसी तरह जब तक श्रीमदाचार्यचरण के वंशजों में श्रीकृष्णसेवापरता–दम्भादिरहितता–श्रीभागवततत्त्वज्ञता लक्षण मिलते हैं तब तक श्रीमहाप्रभु को "भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत् पिता, स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्यः" मानकर उनके वंशजों से ही मन्त्राक्षरोपदेशग्रहण, सेवार्थ भगवत्स्वरूपग्रहण तथा सेवाकरणार्थ प्रकारादि की आज्ञा लेने का आग्रह रखना चाहिये यह "भजेद् जिज्ञासुः आदरात्" (सर्वनि. २२७) में वर्णित हुआ है. जब इन उल्लिखित गुणों के सर्वथा विपरीत लक्षण यदि आचार्यवंशजों में दृष्टिगत होते हों तो श्रीमहाप्रभु को "स्मयापहः" मानकर स्वयमेव अर्थात् आचार्यचरण की चित्र आदि रूप में साक्षात् उपस्थिति की भावना करते हुए मन्त्राक्षर तथा सिद्धान्त श्रीमदाचार्यचरण विरचित ग्रन्थों से प्राप्त कर लेने चाहिये. अर्थात् श्रीमदाचार्यचरण को ही साक्षाद् गुरू मान कर आचार्योपदिष्ट भगवत्सेवा में तत्पर हो जाना चाहिये. यह "तदभावे स्वयं वापि . . ." में वर्णित हुआ है.

यह कालभेदप्रयुक्त मार्गप्रवेशप्रकारों का भेद है जिसे यथाकाल अनुसरणीय माना जा सकता है.

वैसे भी सर्वथा शान्त चित्त से यह एक विचारणीय विषय है कि जैसे श्रीप्रभुचरण के सात पुत्रों में से अब केवल दो पुत्रों का ही वंश रह गया है, परन्तु, भविष्य में यदि कभी एक भी पुत्र का वंश रह नहीं जाये तो क्या बिराजमान भगवत्स्वरूपों की सेवा ही बन्द कर देनी या "तदभावे स्वयं वापि . . ." अनुकल्प को अनुसरते हुए भगवत्स्वरूप की सेवा तो निभानी ही चाहिये ? दोनों में से कौन सा कल्प युक्त है ?

श्रीमहाप्रभु की स्पष्टोक्ति–"भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्" (. पु. प्र. भ. १२) के अनुसार तो भगवत्सेवा ही पुष्टिसृष्टि का मुख्य प्रयोजन है. सर्वोत्तमस्तोत्र के अनुसार तो श्रीमहाप्रभु ने स्व.वंश भी भूतल पर भगवत्सेवात्मिका भक्ति के प्रचारार्थ ही स्थापित किया. ऐसा उल्लेख तो कहीं भी नहीं मिलता कि स्ववंशजों में आचार्यत्व की स्थापना के लिये भक्तिमार्ग का प्रचार किया. अतः भगवत्सेवा प्रयोजन है तथा स्ववंशजों में गुरुत्व या आचार्यत्व का आधान तो केवल एक साधन मात्र है. साधन-प्रयोजन की द्वयी में प्रयोजन की प्रमुखता सर्वविदित है. अतः उत्सर्गतः जब तक श्रीमहाप्रभूक्त लक्षणविशिष्ट श्रोमद्वल्लभवंशज भूतल पर विद्यमान हैं तब उनके मुख से मन्त्रोपदेशग्रहण की विधि है. लक्षणरहित वल्लभवंशजों के काल में "तदभावे स्वयं वापि . . ." कल्प अनुसरणीय है.

जहां तक–"अंशावतार के भजन में सब को अधिकार पूर्णावतार के भजन में समर्पण मन्त्र के पीछे अधिकार", जैसे वचनों की संगति का प्रश्न है तो इसे सिद्धान्तवाक्य तो माना नहीं जा सकता है. क्योंकि व्रज के गोप गोपिकाओं को तो समर्पणमन्त्र के बिना ही पूर्णावतार पुष्टिपुरुषोत्तम का भजन सुलभ हुआ था. इससे सिद्ध होता है कि यह सिद्धान्तद्योतक वचन नहीं है किन्तु श्रीमदाचार्यचरणप्रवर्तित सम्प्रदाय में व्यवस्था का द्योतक वचन है. स्वयं बंगालियोंको भी पूर्ण पुरुषोत्तम पुष्टिमार्गस्वर्वस्व श्रीनाथजीकी सेवा श्रीमहाप्रभु ने बिना ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा के ही दी थी. इससे भी सिद्ध होता है कि यह व्यवस्थाद्योतक वचन ही है.

जहां तक "साक्षात् परम्परया वा भगवन्मुखोक्तं गुरुमुखात् श्रुतं . . . पठितस्य हि अनुवचनम् आवश्यकम्" (सुबो. १।१।१३) वचन का जो असंगत अर्थ "श्रीमद्वल्लभाचार्य के दार्शनिक आचार की परम्परा" के लेखक ने दिया है वह तो पल्लवग्राही पाण्डित्य की ही विडम्बना है. मूलवचन का सन्दर्भोपात्त आशय यों है–"ऋषिगण सूतजी को भगवदवतारचरित्र सुनाने की प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि हम योग तो साध सकते हैं परन्तु भगवद्वचन की सहायता के बिना हमें भगवदीय पदार्थ का ज्ञान सम्भव नहीं. अतः आपने साक्षात् अथवा परम्परया जो भगवन्मुखोक्त गुरुमुख से सुना हो वह हमें सुनाईये. क्योंकि पढी हुई बात योग्य अधिकारी को पढानी चाहिये" इतनी सीधी सरल बात, जो लिट्-अर्थ में कही गई है, उसे संस्कृत भाषा के व्याकरण के नियम को ताक पर रख कर, लोट्-अर्थ में अनुदित करना न केवल सिद्धान्त अपितु भाषा के भी हास्यास्पद अपरिचय का द्योतक है. इस तरह के अनर्गल विधानों से यह ग्रंथ भरा हुआ है. अतएव ग्रन्थलेखक पृष्ठ ५६ पर कहते हैं–"आचार्य श्री ने यहां तक कहा है कि साक्षात् भगवान् के मुख से श्रवण किये हुए वाक्य का अर्थ तभी स्फुरित होता है जब गुरुमुख से उसका अनुवचन हो. भगवन्मुखोक्त गुरुमुख से श्रुत होने पर ही फलित होता है– 'अतएव साक्षात् परम्परया वा श्रुतं भगवन्मुखोक्तं गुरुमुखात् श्रुतम्' " सुव्यवस्थित अध्ययन किये बिना लेखिनी चलाने की अनधिकार चेष्टा का यह दुष्परिणाम है ! अतः हम तो श्रद्धातिरेकवश किये गये इस दुस्साहसपूर्ण लेखन की उपेक्षा करना ही उचित समझते हैं.

जहां तक "अर्वाचीनाम् अतथात्वेपि तन्मूलभूतेषु आचार्येषु अनुग्रहात् तदनुसारिणः तारयसि" (सुबो. प्रका. १० पृ.१२।३१) वाक्य की संगति का प्रश्न है तो यहां यह अवधेय है कि 'अतथात्वे' और 'तद्विपरीत्ये' में बहुत अन्तर है. श्रीमदाचार्यचरण या श्रीमत्प्रभुचरण आदि मूलभूत आचार्यों के साथ, जैसी साक्षात् वार्तालापादि द्वारा भगवदाज्ञा या भगवदिच्छा के बोध की शक्यता थी, वह वैसी शक्यता अर्वाचीन आचार्यों के बारे में शक्य न भी हो, फिर भी उन मूलभूत आचार्यों का यथाशक्ति जो अनुसरण करते हैं, ऐसे अर्वाचीन गुरुओं के उपदेश द्वारा भी सन्मार्गानुगामी जीवों का उद्धार भगवान करते ही हैं. यहां स्पष्ट है कि गुरु का मूलभूताचार्यानुसारी होना आवश्यक है, मूलभूताचार्यविपरीत होने पर बात बदल जायेगी. उदाहरणतया मूलभूताचार्य की आज्ञा है "अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च प्रार्थना कार्या मात्रेपि ततोन्यत्र विवर्जयेत" (वि. धै. आ. १४) और अर्वाचीन आचार्य यदि अपने घर में अन्य देवी-देवताओं का अनुष्ठान करवाते हों तो ऐसों के द्वारा दिये गये ब्रह्मसम्बन्धोपदेश द्वारा ब्रह्म के साथ सम्बन्ध हो ही नहीं सकता. मूलाभूताचार्य की आज्ञा है कि सेवा स्वयमेव स्वयं के धन से तथा स्वयं के घर में भावसंगोपन की गरिमा के साथ करनी चाहिये, परन्तु इसके

विपरीत यदि कोई अर्वाचीन आचार्य पूजारि बन कर केवल तनुजा सेवा ही करता हो तथा अपने मांथे विराजते सेव्य स्वरूप की सेवा के हेतु दर्शनार्थिओं द्वारा दी गई वित्तजा सेवा को स्वीकारता हो अथवा सार्वजनिक मन्दिर में भगवत्सेवा-मनोरथों के प्रदर्शन करवाता हो तो ऐसे विपरीताचरण करनेवाले व्यक्तिद्वारा उपदिष्ट मन्त्राक्षरों के कारण वास्तविक ब्रह्म सबन्ध स्थापित हो नहीं पायेगा.

अतः भलीभांति वाक्यतात्पर्य का अवगाहन करने पर "तदभावे स्वयं वापि . . ." वचन से इन वाक्यों का कोई विरोध है ही नहीं.

(३) **"सर्व गुरुः भगवानेव–भगवानेव वा गुरुः" न्यायेन** भी परस्पर संवादिता स्थापित हो सकती है. यह न्याय श्रीमहाप्रभुविरचित सुबोधिनी (१०।८७।३२) में उपलब्ध होता है.

इस वचन की व्याख्या करते हुए लेखकार ने यह स्पष्ट किया है–"अथ भिन्नगुरुपक्षः गुरुम् उद्दिश्य भगवत्त्वम् अनेन उच्यते. अग्रे (सुबो. १०।८७।३३) भगवन्तम् उद्दिश्य गुरुत्वं विधीयते" (सुबो. लेख १०।८७।३२). इससे सिद्ध होता है कि प्रथम पक्ष यह है कि गुरु तथा परमात्मा के भिन्न होने पर भी गुरु में भगवद्भावना रखते हुए गुरु द्वारा भगवद्भजन में प्रवृत्त होना चाहिये. द्वितीय पक्ष यह है कि स्वयं परमात्मा को ही पहले गुरु मान कर बाद में इष्टदेव के भजन में तत्पर हो जाना चाहिये.

ऐसी स्थिति में सेवार्थ समानीत भगवत्स्वरूप के मुखारविन्द को 'श्रीकृष्णास्यं कृपानिधिः" (सर्वो. ७) रूप गुरु मान कर ग्रन्थस्थ मन्त्र का अनुपठन करना चाहिये और बाद में निःशंकतया अपने सेव्य की सिद्धान्ताभिमत प्रणाली के अनुसार सेवा में तत्पर हो जाना चाहिये. प्रथम कल्प मुख्यकल्प है तथा द्वितीयकल्प गौण कल्प है.

अतएव "गुरोरनुग्रहणैव पुमान् पूर्णः प्रशान्तये" (भाग. १०।८०।४३) की व्याख्या करते हुए श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि "स्वाभाविक कामादि दोष केवल स्वभावोत्पन्न शमदमादि के कारण शान्त नहीं हो पाते. किन्तु गुरु का अनुग्रह अथवा कृतस्मरण भगवान ही उसे शान्त कर सकते हैं" (सुबो. १०।८०।४३). यहां भी स्पष्ट है कि प्रथम कल्प गुर्वनुग्रह दिखलाया गया है जबकि द्वितीय कल्प स्वतः भगवत्स्मरण करना ही माना गया है. यही बात "कृष्णसेवा परं वीक्ष्य" तथा "तदभावे स्वयं वापि" में भी क्रमशः प्रथम मुख्यकल्पतया तथा बाद में अनुकल्पतया कही जा रही है.

इसके अलावा भी–"आम्नायात्तु विनिर्मुक्ता, अनध्याये तथा स्मृताः, अयाज्ये योजिताश्चैव, निषिद्धाय च पाठिताः, फलार्थं योजिताः दृष्टाः, यातयामाः भवन्ति हि, अन्यथाज्ञात रूपाश्च, अन्यथार्थप्रबोधिताः, अव्रतैः शूद्र संकाशैः पातित्याद्याकुले स्थले अधीताः सर्वैवैते यातयामाः भवन्ति हि" (सुबोध १०।८०।४२), यहां सुबोधिनीकार ने यह खुलासा कर दिया है कि शूद्रोपम अव्रती पतित (देवद्रव्यादी) पूजारि से मन्त्रोपदेशग्रहण विफल ही रहता है. श्रीमदाचार्यवंशज भी, यदि भगवत्स्वरूप या भगवन्नाम को पण्यवस्तु बना कर आजीविकानिर्वाहार्थं विक्रय करते हैं तो पतित कोटी में ही परिगणित होंगे यह "जो श्रीठाकुरजी

को द्रव्य खायगो सो मेरो नहीं. अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहू न खायगो. जो खायेगो महापतित होयगो" (घरुवार्ता) इस वचन के अवलोकन करने पर स्पष्ट हो जाता है. ऐसी स्थिति में ऐसों के मुख से ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा ग्रहण करने की कोई सैद्धान्तिक आवश्यकता रह नहीं जाती. अतएव पूजारिपीठवाद श्रीमहाप्रभु को सर्वथा अनभीष्ट है.

अपना तो प्रमेयबलाश्रित कृपामार्ग है अतः देवलकवृत्ति के निषेध वाक्यों की कोई खास महत्ता नहीं ऐसा सोचने पर यह भी कहा जा सकता है "विधिस्नेहयोः स्नेहः बलिष्ठः" (सुबो. १०।८०।४०) वचन के आधार पर भगवत्स्नेह ही प्रमुख है भगवत्सेवा में प्रवृत्त होने के लिये गुरुमुख से मन्त्रोपदेश ग्रहण करने की विधि बलवती नहीं है. यदि अर्वाचीन गुरुओं के मुख्य से हीं मन्त्रोपदेश ग्रहण करने की विधि की कुछ असाधारण महत्ता हो, दीक्षार्थी के लिये, तो दीक्षादाता के लिये भी कृष्णसेवापरायण दम्भादिरहित तथा श्रीभागवततत्त्वज्ञ होने की विधि भी बलीयसी मानी जायेगी. अतः दीक्षार्थी का यह अधिकारपूर्ण कर्तव्य है कि दीक्षादाता में ये गुण हैं कि नहीं यह परखे.

श्रीपुरुषोत्तमजी, अतएव, यह स्पष्टीकरण देते हैं कि "स्वत्वाभिमान के त्यागार्थ एक विशेष अधिकार के सम्पादनार्थ आत्मसमर्पण का उपदेश दिया गया है. अतः आत्म समर्पण पूर्वक सेवा में प्रवृत्त होने पर उत्कृष्ट भक्ति का प्राकट्य हो सकता है" यहां भी यह अवधेय है कि "गुरुः भगवानेव–भगवानेव वा गुरुः" यों दोनों ही कल्प में यह बात लागू हो सकती है.

अतएव "धर्मं हि गुरुः मूलं सच भगवान् तन्मुखत्वाद् ब्राह्मणो गुरुः लौकिकगुर्वपेक्षया भगवन्मुखस्य अत्यन्तगुरुत्वात् नितरां गुरुः" (सुबो. १।७।४३) वचन में भी "भगवानेव गुरुः" कल्प की प्रधानता वर्णित हुई है न कि "गुरुः भगवानेव" कल्प की. किसी भी सूरत में देवद्रव्यादी देवलक पूजारिको गुरु मान कर तन्मुख से मन्त्रोपदेश ग्रहण करने के बजाय भगवनन्मुखारविन्द को ही गुरु मान कर स्वतः मन्त्रग्रहण करके भगवत्सेवा में प्रवृत्त होना उचिततर है.

स्वयं "श्रीमद्वल्लभाचार्य के दार्शनिक आचार की परम्परा" के लेखक को भी यह तो स्वीकारना ही पडा है कि "भिन्नसत्ताके जातः पदार्थाः भगवद्भक्तानां शुद्धिहेतवो न भवेयुः" (सुबो. १०।२५।४). ऐसी स्थिति में सार्वजनिक मन्दिर, जहां वैष्णव-अवैष्णव का पृथक्करण भी न किया जाता हो, वहां आत्मसमर्पणी–असमर्पणी के पृथक्करण की तो कथा ही दूरापास्त है. तिस पर वह भगवत्सेवा आजीविकार्थ चल रही हो तो सेवोपयोगी पदार्थों की भगवद्भोगोचित शुद्धि कहां से आयेगी ? स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में "तदभावे स्वयं वापि. . . ." कल्प अधिक श्रेयस्कर है. अतः इस वाक्य को मर्यादामार्गीय या श्रुतार्थभिन्न तात्पर्यक अथवा कुण्ठितप्रमाण्य मानना निरी विचारशून्यता ही है. यही कारण है कि सिद्धान्तरहस्यविवरण में श्रीपुरुषोत्तमजी ने कहा है कि "भगवद्भक्त का संग, दाम्भिक भक्त के संग का त्याग, साधनान्तरों में (उदाहरणतया शतचण्डी के अनुष्ठान करवाना या शेरडी के सांईबाबा को चादर चढाना) में श्रद्धाराहित्य, और भगवद् गुणों में अनुराग होने पर ही ब्रह्मसम्बन्ध फलित होता है अन्यथा नहीं" (सि. र. वि. २).

इस विस्तृत विमर्श से यह सिद्ध हुआ कि श्रीमहाप्रभूक्त लक्षणयुक्त अर्वाचीन गोस्वामिमहानुभावों से मन्त्रोपदेशग्रहण प्रथम तथा प्रमुख कल्प है परन्तु लक्षणरहित व्यक्ति से दीक्षा लेने के बजाय स्वतः लेना ही अधिक श्रेयस्कर है. बावजूद इस सैद्धान्तिक स्पष्टता के श्रीमद्वल्लभवंशज से ही मन्त्रोपदेश ग्रहण का आग्रह वल्लभसम्प्रदाय की व्यावहारिकी व्यवस्था से सम्बन्धी नियम तो माना जा सकता है परन्तु सिद्धान्त नहीं.

यह कभी भी भूलना नहीं चाहिये कि सेवार्थ ब्रह्मसम्बन्धमन्त्रोपदेश की आवश्यकता जैसे श्रीमहाप्रभु के वचनों के प्रामाण्य पर निर्भर है वैसे ही किससे लेना या किससे नहीं लेना इस निर्णय की कसोटी भी श्रीमहाप्रभु के वचनों के प्रामाण्य पर ही निर्भर होती है. किसी भी एक वचन का प्रामाण्य गौण बनाने पर दूसरे वचन का प्रामाण्य भी स्वतः ही गौण बन जायेगा.

अतः "तदभावे स्वयं वापि . . . ' वचन पुष्टिमार्गीयोपदेश हैं यह निःसन्दिग्धतया सिद्ध होता है.

सूत्र

"गुरुसेवा गुरोराज्ञा गुरौ श्रीहरिभावना गुरौ मयं गुरौ सिद्धिः प्रपन्नः परिभावयेत्" (सा. दी. ४७) वचन के अनुसार "गुरुः भगवानेव" कल्प ही श्रीगोपीनाथजी को अभिप्रेत लगता है "भगवानेव वा गुरुः" कल्प नहीं, यह आशंका अनुचित है क्योंकि उन्हीं के वचनों से अन्यथा प्रकार भी उपपन्न है (१।७).

भाष्य

प्रस्तुत अधिकरण में श्रीगोपीनाथप्रभुचरण के साधनदीपिकास्थ वचन विषय वाक्य हैं.

संशय यहां यह होता है कि सूत्रोल्लिखित वचन में पुष्टिमार्ग में शरणागत अधिकारी के लिये गुरु में भगवद्भावना रखने का विधान साधनदीपिकाकार करते हैं. यहां भगवान में गुरु भावना करने का विधान उपलब्ध नहीं होता. अतः स्वतः सेवा में प्रवृत्त हो पाने की शक्यता भी साधनदीपिका ग्रन्थ के अनुसार क्षीण ही है. ग्रन्थ के उपक्रम में "भक्तिमार्ग वितानाय योऽवतीर्णो हुताशनः स एव नः परं मानं शेषमस्य प्रमान्तरम्" (सा. दी. ३) वचन के अवलोकन करने पर यह भी प्रकट होता है कि साधनदीपिका श्रीगोपीनाथ प्रभुचरण ने श्री मन्महाप्रभुप्रवर्तित पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनों के निरूपणार्थ प्रकट की है. अतः इस ग्रन्थ में "भगवानेव गुरुः" कल्प के उपलब्ध न होने से "तदभावे स्वयं वापि . . ." वचन तथा "भगवानेव गुरुः" वचन दोनों ही मर्यादामार्गीय उपदेश हैं. पुष्टिमार्गीय कल्प तो "गुरुः भगवानेव" ही है. ऐसी स्थिति में पूर्वाधिकरणोक्त उपपत्तिओं की साधनदीपिका से एकवाक्यता कैसे समझनी चाहिये ?

पूजारिपीठवाद का पूर्वपक्ष यहां यों है कि (१) श्रीगोपीनाथ प्रभुचरण साक्षाद् ज्येष्ठात्मज होने से अपने पिता के आशय को जितनी अच्छी तरह समझ सकते हैं उतनी अच्छी तरह

हम तो नहीं समझ सकते, पांच सो वर्ष का अन्तराल हमारे तथा श्रीमहाप्रभु के बीच विद्यमान होने से. (२) वैसे भी सर्वनिर्णय निबन्ध में–"भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यते" (सर्वनि. १९६) इस स्पष्टोक्ति के कारण भी पुष्टिभक्ति का निरूपण इस ग्रन्थ में श्रीमहाप्रभु को अभिप्रेत नहीं है यह प्रतीत होता है. प्रमाणाधीन भक्ति, जो या तो मर्यादाभक्ति है अथवा मर्यादामिश्रित पुष्टिभक्ति है, उसी का निरूपण सर्वनिर्णय में विवक्षित है. प्रमाणानधीन मर्यादामिश्रित शुद्धभक्ति इस प्रकरण का विवेच्यविषय ही नहीं है. शुद्धपुष्टिभक्ति का उपदेश तो, अतएव, षोडश ग्रन्थों में ही हुआ है. (३) उन ग्रन्थों में "भगवानेव गुरुः" कल्प उपलब्ध न होने से उसे मर्यादामार्गीय उपदेश ही मानना चाहिये. (४) ऐसी स्थितिमें "कृष्णसेवापरता-दम्भादिरहितता–भागवततत्त्वज्ञता" लक्षण भी मर्यादामिश्रित पुष्टिभक्तिमार्ग के लिये आवश्यक है अपने शुद्ध पुष्टिभक्तिमार्ग के लिये नहीं. शुद्धपुष्टि भक्तिमार्ग में तो "स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्य" ही पर्याप्त है दीक्षादातृत्वसामर्थ्य की सिद्धि के लिये. (५) इसी अशेष माहात्म्य के कारण केवल तनुजा सेवा या आजीविकार्जनार्थ सेवा करने पर भी गोस्वामिहानुभावों को किसी तरह को दोष नहीं लगता. अन्य कोई पुष्टिमार्गी यथा लालाजी–मुखियाजी–या–साधारण वैष्णव स्वगृह में तनुवित्तजा सेवा करने के बजाय सार्वजनिक मन्दिर में आजीविकार्जनार्थ सेवा या छप्पनभोग का आयोजन करे तो दोषभागी बन सकता है. गोस्वामिबालक, परन्तु, अशेषमाहात्म्यशाली होने से अशेष दोषों को अपने स्वरूपगत सामर्थ्य से ही भस्मसात् कर सकता है, प्रमेयबल के सर्वातिशायी होने से.

आचार्यपीठवाद का उत्तरपक्ष यहां यह है कि पूर्वपक्षी के विचार न केवल अप्रामाणिक स्वार्थैकमूल तथा गर्हास्पद हैं प्रत्युत वदतोव्याघात से भी भरे पड़े है.

(१) हां, यह तो ठीक ही है कि अर्वाचीन किसी आलोचक की तुलना में श्रीगोपीनाथ प्रभुचरण को श्रीमहाप्रभु के ग्रन्थाशय का ज्ञान अधिक निर्भ्रान्त हो सकता है. यही तो हेतु है कि उनके वचनों का विमर्श हम भी स्मृतिकल्पप्रकरण में करने के बजाय श्रुतिकल्प प्रकरण में कर रहे हैं. फिर भी यह तो कहा नहीं जा सकता कि श्रीगोपीनाथप्रभुचरण ने साधनदीपिका जो बात नहीं कही वह श्रीमहाप्रभु के ग्रन्थान्तर में उपलब्ध होती हो तो भी निजाशयगोचर नहीं मानी जा सकती.

श्रीगोपीनाथ प्रभुचरण ने भी साधनदीपिका के उपक्रम भाग में–"परमात्मदर्शन श्रवणादि द्वारा होता है और उस श्रवण-मनन-निदिध्यासन का अथवा अथवा श्रवण-कीर्तन-स्मरण का भक्तिमार्गीय होना आवश्यक है. भक्ति महात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह है. माहात्म्यज्ञान भगवद्गुण तथा भगवलीला के श्रवणादि से शक्य है. इस गुणश्रवण या लीलाश्रवण के हेतु शास्त्रों की उपयोगिता है तथा शास्त्रश्रवणार्थ गुरु की आकांक्षा रहती ही है. अतः जिज्ञासुको चाहिये कि कृष्णसेवापर दम्भादिरहित तथा श्रीभागवततत्त्वज्ञ जो व्यक्ति हो उसे गुरुभावनया समादृत करे" (कारिका ५–१०) इस विधान द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि प्रस्तुत साधनदीपिका तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के सर्वनिर्णयान्तर्गत छोटे से साधन प्रकरण में जोड़ी गई 'साधनदीपिका' है.

न केवल इतना अपितु तनुजासेवापरायण देवद्रव्यादी पूजारिओं की इस मार्ग में कोई भी आवश्यकता ही नहीं है, यहां तो शास्त्रोपदेष्टा आचार्य की ही आकांक्षा है, ऐसा "तत्र (शास्त्रोपदेशे नतु तनुजासेवार्थम्) आकांक्षा गुरोः भवेत्" (सा. दी. ९) से स्पष्ट करते हैं. गुरु कृष्णसेवापर होना चाहिये कृष्णसेवापरदर्शक या प्रदर्शक नहीं. अतएव निजाराध्यके दर्शन करवाने की छूट देते समय भी श्रीगोपीनाथप्रभुचरण सावधानतया "स्वीयान् भक्तान्" (सा. दी. १०८) कहना भूले नहीं हैं. अर्थात् स्वीय अभक्तों को तथा अस्वीय भक्तोंको निजाराध्य के दर्शन कराने की छूट तो है ही नहीं, जो आज सार्वजनिक मन्दिर के नाम पर नग्न ताण्डव पुष्टिमार्ग में चल रहा है.

"गुरु सेवा गुरोराज्ञा. . . . " वचन के बारे में भी अवधेय है कि पुष्टिमार्ग में आरम्भिक कक्षा अर्थात् पुष्टिमार्गान्तिर्गत-प्रपत्तिमार्ग के अनुगामी के लिये यह उपदेश है. पुष्टिमार्गान्तर्गत भक्तिमार्ग के अधिकारी के लिये तो आगामी कारिका (६१) से उपदेशारम्भ होता है. यहां गोपालमन्त्र तथा गद्यमन्त्र के उपदेश के बाद दीक्षित व्यक्ति को स्वयं के घर में भगवत्सेवा तथा तदंगभूत आचारादिका उपदेश ६१ वीं कारिका से १२६ वीं कारिकाओं तक दिया गया है. मध्य में "गुरुदत्तां स्वयं लब्धां भक्तैरपि सुपूजितां व्यंगांगीमपि सेवेत यदि भावो न बाधते" (का. ९०) द्वारा 'स्वयं लब्धा' मूर्ति के भी सेवन की अनुमति प्रदान की है. इन कारिकाओं में एकादशीव्रत तिलकमुद्रा अपरस आदि अनेक विषय सर्वनिर्णय के इसी साधन प्रकरण के आधार पर समझाये गये हैं–षोडशग्रन्थ के आधार पर नहीं. सबसे मजेदार बात तो यह है कि सेव्य स्वरूप की शास्त्रविधि के अनुसार प्राण प्रतिष्ठा करवानी या नहीं इस समस्या के समाधानरूपेण निरतिशय विवादास्पद "तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्रच स्थितं साकारव्यापकत्वाच्च" (सर्वनि. २२८-२२९) कारिकाओं का ही अवलम्बन कर ही श्रीगोपीनाथप्रभुचरण स्पष्टीकरण देते हैं–"नात्र प्राणप्रतिष्ठादि व्यापक स्वादजीवतः" (सा. दी. ८८)

इससे सिद्ध होता है कि कम से कम श्रीगोपीनाथ प्रभुचरण तो सर्वनिर्णयान्तर्गत साधनप्रकरण में निरूपित भक्ति-प्रपत्ति को मर्यादामार्गीय नहीं प्रत्युत्य पुष्टिमार्गीय ही मानते हैं. यही उचित भी है अन्यथा व्रतपञ्चक, तिलकमुद्रादिधारण शौचाचार आदि अनेक विषय मर्यादामार्गीय बन जायेंगे. क्योंकि षोडशग्रन्थों में इनका कहीं भी निरूपण मिलता नहीं है.

(२) रही बात शुद्धपुष्टि की तो वह तो उत्सर्गतया भगवत्प्राकट्यसामयिक ही होती अर्वाचीन पुष्टिमार्गानुगामी तो प्रायः मिश्रपुष्टि के ही अधिकारी हैं, यह 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा, आदि ग्रन्थों की विविध व्याख्याओं के धैर्यपूर्वक अवलोकन करने पर सरलतया समझ में आनेवाली बात है. अतएव षोडशग्रन्थ में भी मिश्रपुष्टिभक्ति से सम्बन्धी उपदेश हैं ही.

(३) अतएव "भगवानेव गुरुः" कल्प साधनदीपिकामें न तो अग्राह्य है और न "तदभावे स्वयं वापि..." उपदेश साधनदीपिका के अनुसार मर्यादामार्गीय उपदेश ही सिद्ध होता है.

(४) "कृष्णसेवापरतादि" गुरुलक्षण तो साधनदीपिकाकार को भी अभिमत है यह तो हमने दिखला ही दिया है. बाकी शुद्धपुष्टि के अधिकारी व्रजभक्तों को गोस्वामिबालकों से

ब्रह्मसम्बन्ध लेने पर पुष्टिपुरुषोत्तम की प्राप्ति हुई ऐसा भागवत या सुबोधिनी के वर्णन में कहीं आता नहीं है. शुद्धपुष्टिभक्ति के प्रतिपादक षोडशग्रन्थ तो अर्वाचीन गोस्वामिबालकों को पुष्टिमार्ग में गुरु मनाने के बजाय गोस्वामिबालकों से अदीक्षित कौण्डिन्य ऋषि को तथा व्रजगोपिकाओं को ही गुरु मानने की बात समझा रहा है–"कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनंच तद्भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते" (सं. नि. ८) अतः व्रज भक्तों के भाव की सिद्धि तो केवल भावना से ही स्वीकारी है. अर्वाचीन गोस्वामिबालकों के मुखारविन्द से ब्रह्मसम्बन्धोपदेश के कारण नहीं. ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा तो सेवाधिकार समर्पिका है तथा इसके बिना भी व्रजभक्तों के भावों की भावना के साथ भगवत्कथा का समाश्रयण करने पर भी भक्ति की वृद्धि प्रेमासक्ति व्यसन कक्षाओं में सम्भव है यह भक्ति बर्धिनी के धैर्यपूर्वक अवलोकन करने पर सुस्पष्ट ही है. "सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिः दृढा भवेत् यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम" (भ. व्र. ९) के आधार पर बिना ब्रह्मसम्बन्ध लिये अथवा देवलकों के द्वारा लोकरञ्जनार्थ तथा आजीविकार्थ की जाती व्यावसायिक तनुजा सेवा में वित्तजा सेवा के गर्हित सहयोग दिये बिना भी केवल कथा प्रणाली से भी कृतार्थता तो श्रीमहाप्रभु के अनुसार सम्भव ही है, फिर अन्धानुगान्ध बनने से लाभ क्या है ?

"स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्य" की विस्तृत विवेचना पहले भी कर चुके हैं अतः पिष्टपेषण अनावश्यक है.

(५) अशेष माहात्म्य के आधान द्वारा अशेष अकाण्डताण्डव करने की छूट स्ववंशज को श्रीमहाप्रभु पुष्टिमार्ग में देना चाहते होते तो शिक्षाश्लोकी में "यदा बहिर्मुखाः यूयं भवि ष्यथ कथञ्चन तदा काल प्रवाहस्थाः देहचित्तादयोऽप्युत सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मानिति मतिर्मम, न लौकिकः प्रभुः कृष्णो मनुते नैव लौकिकम्" (शिक्षाश्लोकी १–२) चेतावनी कदापि नहीं देते.

अतः सिद्धान्तमुक्तावल्युपदिष्ट तनुवित्तजा सेवा, भक्तिवर्धिन्युपदिष्ट स्वगृहस्थि भगवतत्स्वरूप की सेवा तथा अणुभाष्योपदिष्ट भावसंगोपनपूर्विका भगवत्सेवा के सिद्धान्त से विपरीत, सामान्य वैष्णव जनता अथवा गोस्वामिमहानुभाव, जो भी सार्वजनिक मन्दि में व्यावसायिक प्रदर्शनात्मिका सेवा में तनुजासहायता अथवा वित्तजासहायता करते वे सभी पुष्टिप्रभु के, लौकिक पण्यवस्तु की तरह, विक्रय के अपराधी क्रेता या विक्रेता उन्मार्गगामी, यह सिद्ध हो जाता है. ऐसों के संग या उपदेश से भावनाश न हो एतदर्थ "तदभा स्वयं वापि" तथा "भगवानेव गुरुः" कल्प श्रेयस्करतया अनुसरणीय है. यह सिद्ध हुआ.

सूत्र

श्रीमत्प्रभुचरण के पत्रों में (१) कुछ सेव्य निधिस्वरूपों का सविशेष उल्लेख तथा (२) श्रीयदुनाथजी के घर के सिद्ध न हो पाने के उल्लेख कारण सूरतस्थित श्रीबालकृष्णजी यदुनाथनिधि ही हैं ऐसा सिद्ध हो जाने पर अर्वाचीन श्रीबालकृष्णस्वरूपसेवाकर्ताओं पष्ठपीठाधीश स्वीकारना भी उचित नहीं है, सुदृढ हेतुरहित प्रतिज्ञामात्र होने से (१।८

भाष्य

प्रस्तुत अधिकरण में श्रीप्रभुचरण के पत्रों में से प्रस्तुत चर्चा से सम्बन्ध कुछ अंशों पर विचार अभिप्रेत है. पूर्वापर सन्दर्भ के अवधारणार्थ दोनों पत्रों को एक बार समग्रतया दृष्टि-गत कर लेना उचित होगा.

(१) श्रीनवनीतप्रिय – मथुरानाथ – द्वारकानाथ – गोवर्धनधर – विट्ठलेश्वर–मदनमोहन–गोवर्धनधर–नवनीतप्रियचरणारविन्देषु अनुचरस्य प्रणतयः निवेदनीयाः

स्वस्ति श्रीमज्ज्येष्ठभ्रातृचरणकमलेषु यवीयसः विट्ठलस्य प्रणामकोटिनिवेदकोयं पत्रदूतः. शम् इह भावत्कम् आशासे. अहं भगवदाज्ञया रासोत्सवपर्यन्तं **श्रीगोवर्धनधरण चरणारविन्द निकटे स्थितोऽस्मि.** हरिद्वारं प्रति आज्ञा न जातेति न गतम्. अत्र मम अस्वास्थ्यं बहु जातम् आसीत्. उपवासदशकं कृतम्. अधुना भगवत्कृपया श्रीमत्कृपया च नैरुज्यं जातम् अस्ति. कापि चिन्ता न कार्या, अक्का-अम्मा-अत्ताचरणेषु नतयः. अक्का यथा दुःखं न करोति मम अस्वास्थ्यं श्रुत्वा तादृक् कर्तव्यम्. भवतापि कापि चिन्ता न कार्या मम. भगवति सर्वत्र (!) यादवेन्द्रपुरिषु ब्रह्मानन्ददीक्षितेषु हरिहर-नागनाथ-चूडादिषु नमस्काराः विष्णुदासादिषु आशिषः अत्रत्य वैष्णवानां नतयः.

निर्भरं कीडतोरालि मुदा कुञ्जे विवाससोः
अन्योन्यस्य प्रभैवासीद् अन्योन्यमुचितांशुकम् ।।

(२) श्रीकृष्णाय नमः, स्वस्ति श्रीविट्ठलदीक्षितानां गिरधर–श्रीगोविंद–बालकृष्ण–श्रीवल्लभ–रघुनाथ–यदुनाथ– धनश्याम–मुरलीधर – कल्याणराय–**गोकुलोत्सव**–द्वारकेश्वरादिषु आशिषः. शम् इह भवदीयं भद्रं सततम् आशास्महे. प्रभुसेवा सम्यक् कार्या, भोगादिविषयको विचारः सावधानतया कर्तव्यः. सेवकाः सर्वे यथा मर्यादां न त्यजन्ति तथा कार्यम्. **स्थलविचारं कृत्वा यदुनाथगृहं कारणीयम्.** अत्रत्यः समाचारः सर्वः चम्पादिमुखात् श्रोतव्यः. **तत्रापि वीरवरराजस्य पूर्वापेक्षया भूयसी प्रपत्तिः द्रष्टव्या. रायपुरुषोत्तमस्यापि तथैव प्रपत्तिः द्रष्टा. वीरवरेण उक्तम् अस्ति "मह्यं सदा आज्ञापत्रं गिरिधरा यथा लिखन्ति तथा भवद्भिः लेखनीयम्" इति. तेन यदि अत्यावश्यकं कार्यं भवति तदा तथा लेखनीयम्.**

अपरञ्च गोविन्दभट्टादिभिः मत्संगे समागमनार्थं भूयान् आग्रहः कृतः, उष्णकाले पाकजः क्लेशो भविष्यति इति मया बहुधा निषिद्धाः तथापि स्वाग्रहेण वासुदेवः संगे समागच्छति. तत्र वासुदेवमातुः अनुज्ञा न गृहीता अस्तीति मन्मनसि खेदः भवति संकोचः तज्ञ मम अशक्यतया वासुदेवो नीयते तेन भवद्भिः तन्मातुः समाधानं कार्यम्. भवद्भिः चिन्ता न कार्या. शीघ्रमेव आगमिष्यामः. श्रीगोकुलनाथः अस्माकम् ऐहिकं पारलौकिकं च स्वयमेव जातोऽस्तीति किम् अस्माकं विचारणीयम् अस्ति ! अहोरात्रे सेवकाः अन्तर्बहिश्च सावधानाः स्थापनीयाः, किम् अधिकम्, फाल्गुन सुदि १. यमुनादिषु वैंकटादिषु आशिषः गोविन्दभट्टगणेराशभट्टौ रायपुरुषोत्तमवीरवरराजयोः निकटे सपदि तिष्ठतः.

इन पत्रोंमें स्थूलाक्षरवाले अंश इस अधिकरणके विषय वाक्य हैं. वैसे तो प्रथम पत्रके बारेमें हम पहले भी विस्तृत चर्चा कर चुके हैं. वह चर्चा परंतु, भाष्यमें हु थी. सूत्रमुखेन वह यहां अब चिकीर्षित है. द्वितीय पत्रमें भी वैसे तो साक्षात् वच कोई भी ऐसा नहीं है कि जिससे षष्ठनिधि या षष्ठपीठ कौन सि है यह निर्धारित हो पाये, फिर भी इसमें आये एक यह उल्लेख कि "स्थलविचारं कृत्वा यदुनाथगृ कारणीयम्" के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि श्रीयदुनाथजी श्रीप्रभुचरण द्वारा पधराये जानेपर श्रीबालकृष्णजी स्वीकारे तो थे परन्तु नन्दालयकी भावनाके अनुरूप उनका घर बन नहीं पाया था. अतएव श्रीयदुनाथजी सप्तस्वरूपों उत्सवमें सम्मिलित नहीं हुए थे. इसके कारण यह भ्रामक किंवदन्ती फैल गई है कि श्रीयदुनाथजीने श्रीबालकृष्णलाल स्वीकारे ही नहीं थे.

यहां संशय यह होता है घर न बननेसे सप्तस्वरूपोत्सवमें अपने सेव्य स्वरूपके गौरवकी हानिके विचारवश श्रीयदुनाथजी यदि सम्मिलित नहीं हुए तो अपने सेव्य स्वरूप श्रीबालकृष्णजीको क्यों पधराने दिया? अपने सेव्य स्वरूप श्रीबालकृष्णजीको जब उस उत्सवमें अपने पिता श्रीप्रभुचरण तथा अग्रज श्रीबालकृष्ण द्वारा पधराने दिया तो फिर स्वयं भी सम्मिलित क्यों नहीं हुए?

पूजारिपीठवादका पूर्वपक्ष यहां इस तरह है–

प्रथम पत्रमें यद्यपि श्रीबालकृष्णजीका नाम घरमें विराजते वन्दनीय स्वरूपोंकी नामावलीमें दृष्टिगत नहीं होता, फिर भी कुछ स्वरूपोंकी प्रधानता इसके कारण सिद्ध होती है. सप्त स्वरूपोंत्सवमें श्रीबालकृष्णजीको साग्रह पधरानेके श्रीप्रभुचरण के प्रयोजन का विचार करने पर यह इंगित होता है कि श्रीबालकृष्ण प्रभुमें भी श्रीप्रभुचरण प्रमुख सप्तस्वरूपान्तर्गत षष्ठता या तो स्वीकारते थे या आहित करना चाहते थे. श्रीयदुनाथजी, जो छठे पुत्र थे, को पधरानेका हेतु भी वही था कि सूरतस्थ श्रीबालकृष्णजी अष्ट या सप्त प्रमुख स्वरूपोंके अंतर्गत षष्ठ हैं.

द्वितीय पत्रके "स्थलविचारं कृत्वा यदुनाथगृहं कारणीयम्" वचनसे यह भी सिद्ध हो जाता है कि सप्तस्वरूपोत्सवमें असहयोगका कारण श्रीबालकृष्णजी को अस्वीकारना नहीं था किन्तु निज सेव्य स्वरूपके गौरवके तथा सुखके अनुरूप नन्दालयोपम गृहका सिद्ध नहीं हो पाना था.

इस तरह पुरावृत्तकी साक्षी देनेवाले श्रीप्रभुचरणके इन दो पत्रोंको दृष्टिगत करनेपर "पुष्टि सम्प्रदायमें गादीके बारेमें विवादको अवकाश ही नहीं है. क्योंकि पुष्टिमार्गीय श्रीवल्लभाचार्यचरणकी प्रधान गादी-घर (पीठ) श्रीनाथद्वारामें है और उस गादी के महाराजश्री "तिलकायत महाराज" तरीके पहचाने जाते हैं. उनके सेव्य स्वरूप श्रीनाथजी तथा श्रीनवनीतप्रियजी हैं और तत्तत् समय श्रीनवनीतप्रियजी श्रीनाथजीके गोद विराजते हैं. इसके अलावा श्रीगुसांईजी द्वारा स्थापित अन्य सात गादी-घर (पीठ) भी हैं, जिनमें श्रीगुसांईजीके सात बालक और प्रत्येक के श्रीमस्तक पर श्रीगुसांईजी

एक-एक सेव्य स्वरूप पधरा दिये थे, जो 'सात स्वरूप' के नामसे पहचाने जाते हैं. श्रीनाथजी और श्रीनवनीतप्रियजी की गणना सात स्वरूपोंके अंतर्गत नहीं होती. सात गादी या सात घर या (सात पीठ) श्रीगुसांईजीके सात पुत्रोंके कारण है, जबकि प्रधान गादी या घर या (पीठ) श्रीमहाप्रभुजी–श्रीगुसांईजीके कारण है... **सप्त बालक प्रयुक्त, उन-उन बालकों को बंटवारे में प्राप्त हुए तत्तद् गादी के–घर के मुख्य स्वरूप आज जिसके माथे पर बिराजते हों और जहां-जहां बिराजते हों वे स्थान गादी; और उनके मालिक गादी के अधिपति के रूप में पहचाने जाते हैं**... उदाहरणतया श्रीगुसांईजीके द्वितीय पुत्र श्रीगोविन्दरायजीको बंटवारामें प्राप्त हुए, उस घरके मुख्य सेव्य स्वरूप श्रीविट्ठलनाथजी आज श्रीनाथद्वारामें बिराजते हैं और वह सातके अंतर्गत द्वितीय गादी है. इस गादीके वर्तमान अधिपति श्रीगिरधरलालजी महाराजके पुत्र श्रीकल्याणरायजी हैं. श्रीगुसांईजीके द्वितीय पुत्र श्रीगोविन्दरायजीसे चली आ रही परंपरामें वर्तमान द्वितीय पीठाधीश्वर श्रीकल्याणरायजीकी मालिकीके अन्य भी अनेक घर हो सकते हैं, जहां उनके सेव्य स्वरूपोंकी सेवा चल रही होगी, परंतु उसे 'द्वितीय गादी' नहीं कहा जा सकता. चाहे उस अन्य घरका बहुत माहात्म्य भी क्यों न हो!... इस दृष्टि से देखने पर श्रीयदुनाथजीकी छठी गादीके संबंधमें किसी भी तरहके विवादको अवकाश ही नहीं है, अतः सुरतस्थित श्रीबालकृष्णजीका मंदिर ही छठी गादी है, निर्भयरामजी लिखित वंशावली के आधारपर श्रीयदुनाथजीके ज्येष्ठात्मज श्रीरामचंद्र जीका नहीं किन्तु द्वितीयात्मज श्रीमधुसूदनजीका घर होनेसे बडौदाके श्रीकल्याणरायजी के घरको छठी गादी के रूपमें मान्य नहीं किया जा सकता है... (यह पूर्वपक्ष हाल ही में गोस्वामी श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीकी आज्ञासे अनेक पत्र-पत्रिकाओं में जो वक्तव्य गुजराती भाषा में प्रकाशित हुआ था उसका हिन्दी भाषामें अनूदित सारांश है).

आचार्यपीठवादका उत्तरपक्ष यहां यों है–

जहां तक प्रथम पत्र के विषयवस्तु के विमर्शका प्रश्न है तो हम पहले भी वह विस्तारके साथ कर ही चुके हैं (सूत्र १।२ के भाष्य के (क) अनुच्छेदमें). द्वितीय पत्रके विषयवस्तुके विमर्शरूपेण कुछ मुद्दे अवश्य विचारणीय हैं.

यद्यपि यह पत्र कब या किस संवत्में लिखा गया उसका ऊल्लेख पत्रमें तो नहीं मिलता फिर भी पत्रके अन्तःसाक्ष्य के आधार पर पत्रलेखनकाल की पूर्वोत्तर अवधि को निर्धारित करना अशक्य नहीं है.

सर्वप्रथम श्रीगोकुलोत्सवजी के नामोल्लेख के कारण इस पत्र के लेखनकाल की पूर्वावधि निश्चित हो जाती है. क्योंकि श्रीगोकुलोत्सवजी का जन्म वि. सं. १६३४-५ में हुआ है अतः यह पत्र इस से पूर्वकाल का हो नहीं सकता. इसी तरह पत्र में अभ्युपगत बीरबल की विद्यमानता के कारण उस की मृत्यु (वि. सं. १६४१) के बाद का भी यह पत्र हो नहीं सकता है, श्रीयदुनाथजी (जन्म वि. सं. १६१५–"प्रकट भये यदुनाथ फिर विट्ठलेश गृहनन्द चैत शुक्ल गुरु षष्ठिको तत्त्व (५) भूमि (१) रस (६) चन्द (१) सम्प्रदायकल्प-

द्रुम ७।८८) का विवाह तो अति किशोरावस्थामें वि. सं. १६२५ के आसपास हुआ था. स्पष्ट है कि इस समय न तो पृथक् गृहकी आवश्यकता अनुभूत हुई होगी और न यह पत्र तबका लिखा हुआ ही है, श्रीगोकुलोत्सवजीके नामोल्लेख से जैसा कि सिद्ध है. 'श्रीविट्ठलेशचरितामृत' लेखक श्रीद्वारकादास परीख ने वि. सं. १६३७-का एक प्रसंग उद्धृत किया है. चांपाभाई अधिकारी के साथ इस वर्ष श्रीप्रभुचरण फतेहपुर सीकरी पधारे थे. तब बीरबल ने चांपाभाई से श्रीप्रभुचरण के वार्षिक घरखर्च आंकडे के बारे में पूछताछ की थी. इस से श्रीप्रभुचरण अप्रसन्न हो गये थे. इस पत्र की भाषा के अवलोकन करने पर श्रीप्रभुचरण बीरबल पर पर्याप्त प्रसन्न दिखलाई दे रहे हैं. अतः पत्रलेखनकाल की उत्तरावधि वि. सं. १६४१ से कुछ और नीचे लाई जा सकती है. अतः सिद्ध हुआ कि यह पत्र वि. सं. १६३५ से वि. सं. १६३७ के बीच में कभी लिखा हुआ होना चाहिये. निर्भयरामभाई (वि. सं. १८४३) से बहुत पहले अर्थात् वि. सं. १७२९ में लिखे गये सम्प्रदायकल्पद्रुम के अनुसार श्रीयदुनाथजी के प्रथम पुत्र श्रीमधुसूदनजी का जन्म वि. सं. १६३४ में हुआ—"प्रकट भये यदुनाथसुत मधुसूदन बलवान सोलह सो चोंतीसके दुतिय दिवस नृप मान" (सं. क. ८।५६). स्पष्ट है कि इससे एकाद वर्ष पूर्व कभी श्रीयदुनाथजी के बहुजी श्रीमहाराणीजी का द्विरागमन हुआ होगा. तभी से पृथक् घर की श्रीयदुनाथजी के लिये प्रासंगिकता आ सकती है, परंतु पत्र में उल्लिखित 'श्रीगोकुलोत्सव' नाम के कारण अभी एक वर्ष और ऊपर आना पडेगा. सम्प्रदायकल्पद्रुमके अनुसार—

प्रकटे बहुर गुविन्दके गोकुल उत्सवनंद।
ज्येष्ठ कृष्ण गुरु चौथिकों पंच[५] लोक[३] रस[६] चन्द[१] ।।
जातकर्म उत्साह करि श्रीविट्ठल द्विजराय।
मुनि (७) मंदिर प्रारंभ किय श्रीमद्गोकुल आय ।।
(सं. क. ८।८५-८६)

इससे एकदम स्फुट हो जाता है कि यह पत्र वि. सं. १६३५ से वि. सं. १६३७ के बीच में ही कभी लिखा गया है.

संवत १६४१ में, सम्द्रदायकल्पद्रुमकार के अनुसार, सातों घर तैयार हो गये थे—

मंदिर सप्त तैयार लखि श्रीविट्ठल हरखाय।
वेदशास्त्र वेदांग मति सेवा रीत बताय ।।
ब्रह्म[१] वेद[४] रस[६] इन्दु[१] गुण युगादि दिन पाय।
दीने सप्त स्वरूप नृप सप्त सुतन हरषाय ।।

बालकृष्ण लघु जान प्रभु नृप यदुनाथ न लीन।
लै कल्याण प्रभु वेष्णु सों बहुर 'महा' पद दीन ।।
बालकृष्ण प्रभु विनय करि बालकृष्ण फिर लीन।
(सं. क. ८।१०७-११२)

तभी श्रीबालकृष्णजी को पधराने से श्रीयदुनाथजी ने इन्कार कर दिया यह न केवल सम्प्रदायकल्पद्रुमकार, भावभावनाकार श्रीद्वारकेशखी, श्रीवल्लभजी महाराज, निजवार्ता-भावप्रकाशकार, षट्ऋतुवार्ताकार चतुर्भुजदासजी, १२० वचनामृतकार श्रीगिरधरजी, अहमदाबादवाले श्रीरणछोड़लालजी महाराज अपितु स्वयं श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज (सूरत बिराजमान) भी स्वीकारते चले आये हैं. अचानक तब आज ही यह मिथ्यावाद क्यों फैलाया जा रहा है कि श्रीयदुनाथजी ने श्रीबालकृष्णलालजी को तो स्वीकारा था परंतु घर तैयार नहीं हुआ था इसलिये सप्तस्वरूपोत्सव में सम्मिलित नहीं हुए थे? उत्तर तो इसका केवल एक ही है: "पूजारिपीठवाद का मोह."

हम दिखला चुके हैं कि संवत् १६३७ या अधिकाधिक संवत् १६४१ के बाद का तो यह पत्र हो नहीं सकता. बंटवारा संवत १६४१ में हुआ था जबकि सप्तस्वरूपोत्सव तो संवत १६४४ के बाद हुआ है (द्रष्टव्य सं. क. ८।१३५–१६६), अतः बीरबल के मरने के काफी बाद में. अतः उस समय जतिपुरा में श्रीयदुनाथजी के घर के तैयार होने या न होने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता. पत्राभ्युपगत बीरबल की विद्यमानता के कारण.

सब से विचित्र बात तो यह है कि श्रीयदुनाथभावनिकाकार श्रीकल्याणरायजी तथा सेव्यसेवकरसास्वादकार श्रीवल्लभरायजी जैसे विद्वान महानुभाव भी किसी भी तरह की ऐतिहासिकी तार्किकी सैद्धान्तिकी अथवा भावनात्मिका पूर्वापर संगतिके विचार किये विना मिथ्या-मिथ्या वृत्त नाम भावना तथा हेतुओं का प्रचार कर रहे हैं. पूजारिपीठवाद के मोहवश सिद्धांत तथा सत्य को झुठलाने में चाहे लज्जा न अनुभूत होती हो, परंतु अपने परिश्रमार्जित वैदुष्य की तो कुछ परवाह करनी चाहिये थी!

(१) श्रीयदुनाथभावनिका का हिन्दी अनुवाद

"प्राचीनवार्तासाहित्य में वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं का विचार करने पर, इसी तरह श्रीप्रभुचरण के पत्रों के आधार पर भी यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीयदुनाथजी के अलावा सभी के घर-मंदिर सिद्ध हो गये थे. श्रीप्रभुचरण अपने एक पत्र में लिखते हैं कि—"स्थलविचारं कृत्वा यदुनाथगृहं कारणीयम्." अर्थात् श्रीबालकृष्णप्रभु की श्रीयदुनाथजीकी भक्तिभावनाके अनुसार सेवा हो पाये तदनुरूप स्थल देख कर श्रीयदुनाथजी का मंदिर सिद्ध कराना चाहिये. अन्य एक पत्र में भी श्रीप्रभुचरण ने स्पष्ट लिखा है कि श्रीयदुनाथजी का मंदिर सिद्ध नहीं हो पाया इसकी उन्हें विशेष चिन्ता है (दुर्भाग्यवश प्रस्तुत निबंधके लेखक को यह कहीं भी मिला नहीं है) अतः जैसे बने वैसे शीघ्र ही मंदिर निर्माण करना" (श्रीयदुनाथभावनिका पृष्ठ सं. १२–१३).

(२) सेव्यसेवकरसास्वाद का हिन्दी अनुवाद.

"श्रीप्रभुचरण ने सभी बालकों के श्रीमस्तक पर श्रीठाकुरजी के स्वरूप पधरा दिये थे. कुछ समय तक तो इन सभी स्वरूपों के साथ ही श्रीनवनीतप्रियाजी बड़े सिंहासन पर बिराजे. उसके बाद जब सात स्वरूपों के अन्नकूट-उत्सव का प्रसंग उपस्थित हुआ तब

सभी स्वरूपों को पधराकर श्रीगुसांईजी जतिपुरा पधारे और प्रत्येक स्वरूप को उन-उन के मंदिरों से पधराने की आज्ञा दी. यहां यह उल्लेखनीय है कि श्रीयदुनाथजी का मंदिर यथासमय पहले से बन नही पाया था जिस का उल्लेख "स्थल का विचार कर श्रीयदुनाथजी का मंदिर बनवाना है" इस आशय के श्रीगुसांईजी के पत्रमें आतुरता के साथ किया गया है. इस बीच तत्कालिकतया जो मंदिर सिद्ध हो पाया वह अपने अतिशय प्रिय तथा बंटवारे में मिले मधुरेश (!?) श्रीबालकृष्णजी को सुखकारी नन्दालय की भावना को साकार करे ऐसा बन नहीं पाया था. अन्नकूट उत्सव हुआ तब अन्य स्वरूपों की तरह अपने सेव्य प्रभु का अपेक्षित मंदिर न होने के कारण वैसी भावना के अनुसार स्वयं श्रीनाथजी के पास पधरा नहीं सकते. इसलिये "अस्माकं महती लज्जा स्वामिन् स्वपतिनिन्दनात्" न्याय के अनुसार श्रीबालकृष्ण प्रभु की कुछ भी न्यूनता रहे यह कल्पना भी श्रीयदुनाथजी के लिये असह्य तापरूप बनी, अतः विरहभाव में आप तुलसीवन में पधारे. आपके गूढभाव जीवबुद्धया समझ पाने शक्य नहीं. और अतएव श्रीबालकृष्णजी का का स्वरूप पधराया नहीं आदि अन्यथा बातें घड ली गई हैं, जिनके कारण मन में अन्यथाभाव लाकर हम अपराधभागी बनते हैं" (सेव्यसेवकरसास्वाद पृष्ठ ३५-३६).

उल्लेखनीय है कि ये सारी कपोलकल्पित भावनायें तथा इतिवृत्त न तो श्रीयदुनाथजीके प्रति भक्तिभाव से और न श्रीबालकृष्णजी के प्रति भक्तिभावसे प्रसूत है परंतु केवल षष्ठपीठाधीशताके मोहवश ही. प्रस्तुत निबंध के लेखक को स्वयं श्रीकल्याणरायजी ने एक बार अनुरोध किया था कि यदि हो सके तो श्रीवल्लभरायजी को काशी के घर में गोद लेनेका सुझाव (अब नि. ली.) गो. श्रीमुरलीधरजी को दूं. मैंने कहा कि "उन्हें मान्य नहीं होगा," इस पर श्रीकल्याणरायजी ने पूछा था कि "उन्हें आपत्ति तो यही होगी कि हम सूरत के घर को षष्ठपीठ मानते हैं, परंतु हमें यदि वहां गोद लिया जाये तो क्यों हम सूरत के घर को षष्ठपीठ मानेंगे. तब तो हम भी काशी के घर को ही षष्ठपीठ मानेंगे." इससे साफ-साफ समझ लेना चाहिये कि बडोदावाले भी यदि इनमें से किसी एक को गोद ले लेते तो बडोदास्थ श्रीकल्याणरायप्रभु को भी षष्ठनिधि न मानना आज अपराध बन गया होता!

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कालविमर्श करने पर ऊपर दिये गये लेखन कितने बोदे हैं यह तो हम समझ गये परंतु तार्किकी संगति, सैद्धान्तिकी संगति तथा भावना-संगति की दृष्टि से भी ये दोनों कल्पनायें कितनी विसंवादिताओं से भरी हैं यह दिखलाने का अब हम प्रयास करेंगे.

तार्किकी संगति का विमर्श

प्रश्न (१) "स्थलं विचारं कृत्वा यदुनाथगृहं कारणीयम्" वचनके आधार पर नन्दालयकी भावनाके अनुरूप अपने सेव्य का मंदिर सिद्ध नहीं हो पाया यह कह तो दिया परंतु हेतुसाध्य की व्याप्तिका स्वरूप क्या? कितने वर्गफुट स्थलपर कितने वर्गफुट भवन का निर्माण नन्दालय की भावना के अनुरूप होता है. कुछ परिमाण कहीं सिद्धांततया निर्दिष्ट है क्या?

प्रश्न (२) "अचिन्त्यशक्तिसंपन्न-सोमयागाद्यनुष्ठाता-गोविप्रप्राणरक्षक" (से. स. र. पृष्ठ ४५-४७) श्रीयदुनाथजी सोमयागार्थ यदि द्रव्य एकत्रित करने में समर्थ थे तो निजाराध्य के सुखसेवार्थ भवननिर्माण कराने में समर्थ नहीं थे क्या?

प्रश्न (३) "वेदाज्ञावत् तातपादादेशसंपालनग्रहः" (से. स. र. पृष्ठ ५९) श्रीयदुनाथजी किसी भी कारणवश निजसेव्यप्रभु के सिद्ध न हो पाये मंदिर के कारण तातपादादेश के बावजूद उत्सव में क्यों सम्मिलित नहीं हुए?

प्रश्न (४) यदि निजसेव्यप्रभु की अवमानना हो रही थी तो निजसेव्य को क्यों पधराने दिया? क्या निजसेव्य के ऊपर अपना स्वत्व छोड़ देने के लिये अथवा 'अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न' होने के बावजूद अवमानना रोक पाने में असमर्थ होने के कारण अथवा अपने अग्रज तथा पिता के विरोध में अचिन्त्य शक्ति का प्रयोग करने में संकोच या कुण्ठा की अनुभूति के कारण अथवा सेव्य की अवमानना में सेवक के साक्षी न बननेमात्र से मनःसमाधि का सन्तोष मान लेने के कारण अथवा स्वसेव्य के अवमाननाकारी प्रसंग में असहयोगात्मक विरोध द्योतित करने के लिये?

प्रश्न (५) अपने आराध्य प्रभु की होती अवमानना के बावजूद अपने पिता श्रीप्रभुचरण की आज्ञा को अनुल्लंघनीय मानने के कारण अवमाननाकारी उत्सव में विवशतया पधराने दिया तो उसी विवशता के कारण उत्सव में भी सम्मिलित होना चाहिये था सो क्यों नहीं हुए? यदि अवमानना सर्वथा असह्य थी तो बाद में राजा आशकरणदास के मनाने जाने पर क्या अवमानना ही सह्य भी हो गई थी? अन्यथा सम्मिलित क्यों हुए?

प्रश्न (६) स्वप्रभुसेवोपयोगी वैभवशाली गृह सिद्ध न हो पाया एतदर्थ "श्रीबालकृष्ण सर्वस्व-बालकृष्णैकहृदय-बालकृष्णैकलोचन-बालकृष्णैकेष्टदेव" (से. से. २.२२-५८) श्रीयदुनाथजी क्यों "वैभवशालिगृहसर्वस्व-वैभवशालिगृहैकहृदय-वैभवशालिगृहैकलोचन-वैभवशालिगृहैकेष्टदेव" बन गये?

प्रश्न (७) यदि "गोपीविरहभावात्मा-तुलसीकुञ्जवल्लभः गूढः निगूढभावात्मा गूढभावैक-भावनः" (से. से. र. पृष्ठ ३३-३८) श्रीयदुनाथजी अपने तुलसी कुञ्ज में अपने गूढ-निगूढ-गूढभावैकभावनाओं को क्या अन्यदा कभी नहीं कर सकते थे कि उत्सव में ही रसाभास प्रकट करने का दुराग्रह क्यों रखा?

प्रश्न (८) इस उत्सव में असहयोग द्वारा मूल आज्ञाप्रदायक श्रीगोवर्धनधर का विरोध अभिलषित था अथवा आज्ञानुसारी मनोरथी अपने अग्रज श्रीगिरधरजी का विरोध करना अभिलषित था अथवा इस मनोरथ की अनुमति देनेवाले अपने पिता श्रीप्रभुचरण का विरोध करना अभिलषित था अथवा केवल उत्सव का ही विरोध करना "श्रीगोवर्धनस्थितिप्रेष्ठो गोवर्धनधरप्रियः गोवर्धनसुखस्वान्तः गोवर्धनमहोत्सवः" (से. स. र. पृष्ठ ५४) श्रीयदुनाथजी को अभिलषित था?

प्रश्न (९) अथवा ऐसे अन्याय तथा पक्षपात भरे उत्सव में अन्य भाई क्यों सम्मिलित हो रहे हैं ऐसी आपत्ति मन में रखते हुए सभी भाईओं का विरोध "सर्वभ्रातृप्रियः" (से. स. र. पृष्ठ ४३) श्रीयदुनाथजी करना चाहते थे ?

प्रश्न (१०) अथवा स्वयं के सेव्यप्रभु ने जैसे श्रीप्रभुचरण की बाल्यावस्था में लड़-झगड़ कर ठोर की छीनाझपटी करके अपनी दिव्य बाललीला के सानुभाव को प्रदान करने की सामर्थ्य प्रकट की थी इस तरह अवशिष्ट छह भाईओं के एकाद नन्दालयोपम भवन को छीन-झपटकर ले लेने की लीला क्यों प्रकट नहीं दिखा रहे हैं अतः अपने सेव्य प्रभु का ही विरोध करने "श्रीबालकृष्णैकेष्टदेव" श्रीयदुनाथजी उत्सव में सम्मिलित नहीं हुए थे ?

य दुःसमाधेय प्रश्न उल्लिखित दोनों कपोलकल्पित वर्णनों की तार्किक विसंगति को बिलकुल उजागर कर रहे हैं.

सैद्धान्तिकी संगति का विमर्श

जहां तक सैद्धान्तिकी संगति का प्रश्न है तो सम्प्रदाय में श्रीप्रभुचरण के समकालिक चतुर्भुजदासजी से प्रारम्भ कर, सम्प्रदायकल्पद्रुम (८।१२५-१६६) कार जो श्रीहरिरायजी-के शिष्य तथा श्रीयमुनाबेटीजी के पौत्र हैं, भावभावनावारे श्रीद्वारकेशजी, जो न तृतीय पीठाधीश हैं न षष्ठपीठाधीश अर्थात् सर्वथा तटस्थ व्यक्ति हैं, श्रीवल्लभजी, १२० वचनामृतकार श्रीगिरधरजी तथा अन्तिम अहमदाबादवाले श्रीरणछोडलालजी महाराज पर्यन्त एक स्वर से जिस इतिवृत्त का वर्णन कर रहे हैं कि श्रीयदुनाथजी ने श्रीबालकृष्ण प्रभु को पधराना स्वीकारा नहीं उसमें कोई सैद्धान्तिक बाध तो नहीं दिखलाई देता. क्योंकि स्वयं श्रीमहाप्रभु भी यह तो अनुमति देते ही हैं कि "अभिमतया मूर्त्या प्रकारसहस्रमध्ये . . . रूपेषु स्वभावः नियामकः" (सुबो. ११।३।४८).

अतः आकार में छोटी मूर्ति होने के कारण अथवा श्रीमहाप्रभुद्वारा पुष्ट न किये गये होनेके कारण अथवा सम्पुटजी में बिराजनेके कारण अर्थात् जिस किसी भी कारणवश श्रीबालकृष्णजीका स्वरूप श्रीयदुनाथजीको सेवार्थ अभिमत न हो तो कोई सैद्धान्तिक क्षति तो नहीं है.

परन्तु नन्दालय की भावना को साकार कर पाये ऐसे वैभवशाली भवन के न मिलने पर स्वसेव्य प्रभु के भी उत्सव में सम्मिलित न होकर व्यर्थ गूढ-निगूढ-गूढैकभावों (!) की भावना द्वारा विरह करने का हास्यास्पद सिद्धान्त तो "भगवत्सेवायामपि क्लिष्टं न समर्पयेत्, तत् क्लिष्टं त्रिविधं लोकक्लिष्टम् आत्मक्लिष्टं चित्तक्लिष्टं च इति. अतः अक्लिष्टं निरूप्यते–(१) लोके यद्-यद् इष्टतमम् आम्रद्राक्षादि (२) आत्मनः अत्यन्तं प्रियं दुग्धादि (३) सन्मार्गोपार्जितं (नतु देवलकवृत्त्या !) * न अन्येषां (यथा श्रीयदुनाथवंशोद्भवानां !) * भागरूपम्, चिरकालमनोरथचिन्तितम् अन्तःकरणप्रियं, तेनैव चित्तनिर्वृतिः **इतरनिषेधार्थम् एतद् उक्तम्**", (सर्वनि. प्रका. २२) वचन से सर्वथा ही विरुद्ध है.

* कोष्ठकान्तर्गत शब्द प्रस्तुत लेखकके हैं.

"अस्माकं महती लज्जा . . ." न्याय यदि यहां न्याय्य होता तो राजा आशकरणदास जीके मनाने पर भी उत्सव में सम्मिलित नहीं होना चाहिये था. नित्यसेवार्थ घर यदि गोकुल में तैयार था तो वहीं से पधराने चाहिये थे केवल जतिपुरामें घर तैयार नहीं हुआ इतने मात्र से इतना बखेड़ा करना कि जो आज सवा चार सौ वर्ष तक सुलझ नहीं पाया कहां की सिद्धान्तसंगत कथा हो सकती है ? अथवा बाद में श्रीगिरधरजी अथवा तीसरे लालजी श्रीबालकृष्णजी के साथ रह कर सेवा की थी, ऐसा स्वीकारा जाता है. तो सप्तस्वरूपोत्सव में भी वैसा क्यों नहीं किया ?

भावनासंगति का विमर्श

भावनासंगति का विमर्श भी इसी से हो जाता है कि विप्रयोगानुभव उत्तरदलानुभव अन्यदा भी कभी सम्भव था. आवश्यकता नहीं थी कि जब संयोगानुभव के महोत्सव का प्रसंग हो तभी विप्रयोगानुभव करने को जानबूझ कर बिछुड़ना और फिर रोना !

कोई पत्नी अपने पति के घर में आयोजित उत्सव में इसलिये सम्मिलित न हो कि जेठ-देवर को तो ससुर ने बड़े-बड़े घर दिये हैं परन्तु अपने पति को छोटा घर दिया है, अतः पति सम्मिलित होता हो तो हो, परन्तु अपने पति के अपमान का विचार कर मैं सम्मिलित नहीं हो सकती ! ऐसी पत्नी की भावना पति को सर्वस्व मानने के बजाय वैभवशाली भवन को अपना सर्वस्व मानने की अधिक लगती है.

हमें नहीं लगता कि ऐसा जघन्यभाव श्रीयदुनाथजी के हृदय में कभी पनप सकता हो. ये भाव तो पूजारिपीठवादिओं के हृदय में ही अंकुरित तथा पल्लवित होते हैं ! परन्तु इसका फल भुगतना पड़ता है सारे मार्ग को ही !

पूजारिपीठवादिओं की पीठपरिभाषा का विमर्श

पूजारिपीठवादिओं की पीठपरिभाषा कि "बंटवारे में जिस-जिस सात बालक के माथे जो सात स्वरूप पधराये गये थे वे आज जहां जिस घर में बिराज रहे हैं उस घर का जो मालिक हो वह निधिक्रमानुसार प्रथमादि सप्तमान्त पीठाधीश कहा जाता है" यहां यह विचारणीय है कि 'मालिक' शब्द (क) कानूनी मालिकी के अर्थ में (ख) कुलाचारनीतियुक्त मालिकी के अर्थ में (ग) आनुवंशिक मालिकी के अर्थ में अथवा (घ) अन्यायपूर्ण मालिकी के अर्थात् अनीति-पूर्ण मालिकी के भी अर्थ में लेना चाहिये ?

(क) आज तनुवित्तजा सेवा तथा स्वगृह में पुष्टिभावसंगोपन की गरिमा से मण्डित सेवा के प्रकार को निभाने का आचार्योचित आत्मगौरव तो पूजारिपीठवादिओं में होता नहीं है. अतएव यथाकथञ्चित् सम्पत्ति बचाने के लिये अपने आराध्य स्वरूप तथा सेवास्थल को सार्वजनिक न्यास बना दिया जाता है. जिन्होंने नहीं बनाया है वे भी अपनी इन कुप्रवृत्तिओं को काबू में नही ला पाते. अतः निकट भविष्य में सरकार द्वारा सार्वजनिक न्यास घोषित कर दिये जायेंगे.

ऐसी स्थिति में कानूनी मालिक या तो न्याससमिति होगी या जनता या स्वयं निधिस्वरूप ही, अतः पीठाधीश भी इन तीन में ही कोई हो सकता है.

(ख) कुलाचारकी नीतिके आधार पर दो ही सम्भावनायें सामने हैं–(१) श्रीबालकृष्णजी श्रीयदुनाथजी के सेव्यस्वरूप हैं अथवा (२) उनके अस्वीकार के कारण श्रीप्रभुचरण-के तृतीयात्मज श्रीबालकृष्णजी की ही श्रीद्वारिकाधीश की तरह यह दूसरी निधि हैं.

(१) श्रीबालकृष्णजी श्रीयदुनाथजी के घर में आज तो विराजते नहीं है और न उनके वंशजों के पास ही. क्योंकि सूरत का घर तीसरे घर की शाखा है. यह श्रीव्रजरायजी महाराज, सूरतगृह-संस्थापक तथा श्रीजानकीबहुजी–श्रीगंगाबेटीजी–श्रीव्रजभूषणजी के बीच हुए तथाकथित फारगती पत्र, (ष, श्रीबा. चरि. परि. ३) के आधार पर सिद्ध होता है. श्रीव्रजरायजी का दावा मूलतःश्रीद्वारिकाधीश पर था परन्तु वह न मिलने पर उनकी एवज में श्रीबालकृष्ण प्रभु बादशाही फरमान को बलजबरी (वहीं परि. २) या तथाकथित फारगती पत्र के आधार पर पधरा लिये गये थे. अतः तीसरे घर के बंटवारे में कांकरोली तथा सूरत दो घर बने. ऐसी स्थिति में इतना तो निश्चित है कि यदि पुनः श्रीयदुनाथजी या उनके वंशज मांगे तो लौटा देने की शर्त पर तृतीयात्मज के घर विराजते हों तो कुलचार की नीति के आधार पर सूरत में श्रीबालकृष्णजी के मन्दिर पर जब तक श्रीयदुनाथजी के किसी वंशज की मालिकी स्थापित न हो तब तक तो केवल सम्हालनेवाले ट्रस्टी ही सूरत के घर के गोस्वामी कहलायेंगे मालिक नहीं. और यदि दुबारा लोटाने का उत्तरदायित्व न हो तो सिद्ध हुआ कि श्रीबालकृष्णजी श्रीयदुनाथजी के ठाकुरजी नहीं है–चाहे भूतकाल में रहें भी हों तो भी. क्योंकि तब जिनको मिले उनके ठाकुरजी कहलायेंगे. जैसे श्रीगिरधरजी को श्रीनवनीतप्रियाजी–श्रीमथुराधीशजी–श्रीनटवरलालजी मिल जाने पर वे तीनों उनके श्रीठाकुरजी बन गये थे. हो सकता है कि यदि श्रीयदुनाथजी के मांथे बिराजते तो उनके घर के ये मुख्यनिधिस्वरूप भी कहलाते परन्तु तीसरे पुत्र के घर में मुख्यनिधिस्वरूपतया न तो विराजे और न तीसरे घर के मुख्यनिधिस्वरूपतया श्रीव्रजरायजी को प्राप्त हुए. अतः यह स्वरूप न तो तृतीयनिधि और न षष्टनिधि ही रह जाते हैं.

(२) अतः द्वितीय कल्प के अनुसार श्रीप्रभुचरण के तृतीयात्मज के द्वितीय स्वरूपभूत श्रीबालकृष्ण के मंदिर पर ही कुलाचारनीति के अनुसार मालिकाना हक सिद्ध होता होनेसे सूरतका घर (तृतीय/२) घर ही सिद्ध होता है,

(ग) आनुवंशिक मालिकी भी, स्वयं गोस्वामी श्रीव्रजरत्नलालजो महाराज की आत्मस्वीकृति के आधार पर औरस क्रम से श्रीगिरधरजी के वंश का मालिकाना हक साबित होता है, अतः (प्रथम/...) घर में इसे गिनना चाहिये अथवा अनौरस क्रम से तो पुनः (तृतीय/२) गृह ही सिद्ध होता है, स्वयं श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज की भी स्वीकृति के अनुसार.

(घ) अन्यायपूर्ण मालिकी के आधारपर तो कल जो कोई चुरा जाये या सरकार किसी गैरवल्लभवंशज को नियुक्त कर दे तो उसे भी षष्ठपीठाधीश मानना पडेगा.

इससे सिद्ध हुआ कि आठ या सात या अन्य भी सभी गोस्वामिगृहों में भगवत्सेवाधिकार अथवा भगवत्स्वरूप के कारण गृहत्व या पीठत्व नहीं है किन्तु जिसे औरस अथवा अनौरस क्रम से कुलाचारनीति के अनुकूल उत्तराधिकार जिस घर का मिलता है वही उस घर या पीठ का पीठाधीश कहलाता है. घर या पीठ की भौतिक संपत्ति-भूमि-भवन-आभूषणादि की तरह सेव्यस्वरूप भी आधिदैविक संपत्ति या निधि है जिस पर औरस या अनौरस उत्तराधिकारी का आनुवंशिक स्वत्व स्थापित होता चला आ रहा है.

श्रीयदुनाथजी का गृह, थोडी देर के लिये श्रीरामचंद्रजी को भी ज्येष्ठ पुत्र मान लें तो भी श्रीगिरधरजी के ज्येष्ठ पुत्र श्रीमुरलीधरजी का जैसे वंश नहीं चला वैसे ही श्रीरामचंद्रजी का भी न चलने के कारण, श्रीमधुसूदनजी को ही मिला, जैसे श्रीगिरधरजी के दो घरों में से एक श्रीदामोदरजी को तथा दूसरा श्रीगोपीनाथजी को मिला था, वैसे ही वडौदास्थित घर ही है.

सूत्र

इस तरह मूलाचार्य वचनों से असिद्ध तथा विरुद्ध होने से पूजारिपीठवाद अप्रामाणिक है सर्वथा अप्रामाणिक (१।९).

भाष्य

पूजारिपीठवाद न केवल मूलाचार्य के वचनों से असिद्ध है अपितु विरुद्ध भी है.

न केवल इतना अपितु पूजारिपीठवाद के मोहवश सूरत के घर के षष्ठपीठ होने का दावा तो एक हास्यास्पद तीन या चार अंकवाला प्रहसन या भाण है.

इस का प्रथम अंक षष्ठनिधि अंक है. द्वितीय अंक षष्ठपीठ या षष्ठगृह अंक है. तृतीय षष्ठात्मजवंश अंक है. चतुर्थांक संभवतः प्रधानपीठ अंक होगा ऐसे कुछ-कुछ आसार नज़र आ रहे हैं !

इस नाटक की विशेषता यह है कि पूर्व-पूर्व अंक के वृत्तान्त या उससे संबंधित प्रमाण उत्तरोत्तर अंक में मिथ्या सिद्ध होते चले जाते हैं. प्रत्येक नवीन अंक में पूर्वोपात्त प्रमाणों को खलनायक मान कर निन्दनीय मान लिया जाता है, जिसे पूर्व अंक में वन्दनीय नायक की तरह स्वीकारा गया था ! संक्षेप में प्रथम अंक में केवल सूरत में विराजमान श्रीबालकृष्णजी का स्वरूप षष्ठनिधि और एतत्सम्बंधी अनेक प्रमाण "षष्ठनिधि स्वरूप श्रीबालकृष्णजी (सूरत) का चरितामृत" में संकलित हुए है. द्वितीय अंक में षष्ठपीठ सूरत का घर है इसमें उक्त "०००० चरितामृत" के सभी प्रमाणों की सोचना-कहना अपराध मान लिया गया है. इसके प्रमाण श्रीयदुनाथभावनिका–सेव्यसेवकरसास्वाद्–पुष्टिमार्गमां गादी अंगेना विवादने अवकाश ज नथी आदि लेखों में एकत्रित हुए हैं. तृतीय अंक के तथा चतुर्थ अंक के आनेवाले प्रमाणों का बीजावाप तो हो गया है, परंतु

अभी क्योंकि द्वितीय अंक चल रहा है तब तक अंकुरित-पल्लवित नहीं होने दिया जायेगा. द्वितीय अंक के समाप्त होते ही तृतीय अंक के नये-नये प्रमाण अंकुरित हो जायेंगे कि सूरतस्थित परिवार श्रीयदुनाथजी के वंशज ही हैं. चतुर्थ अंक इसके बाद आयेगा कि सम्प्रदाय में प्रधान निधिस्वरूप श्रीनाथजी नहीं किन्तु श्रीबालकृष्णजी हैं अतः वाल्लभ सम्प्रदाय के प्रधानपीठाधीश सुरत का परिवार ही हो सकता है !

तो आईये इन तीन-चार अंकोंवाले प्रहसन में ऊपर उठा-उठा कर पटके जाते प्रमाणों की हास्यास्पद दुर्दशा का अवलोकन करें–

अंक प्रथम : षष्ठ निधि अंक

(१) **उपरोक्त** बंटवारे में **श्रीयदुनाथजी ने श्रीबालकृष्ण प्रभुका स्वरूप छोटा होने से आपत्ति उठाई** तब श्रीगुसांईजी ने स्वमुख से आज्ञा की कि स्वरूप सभी समान हैं. **श्रीबालकृष्णजी को श्रीनवनीतप्रियाजी के साथ पधरा कर श्रीगिरधरजी को दिया और** उनको आज्ञा की कि **श्रीयदुनाथजी या उनके वंशजें जैब भी श्रीबालकृष्णजी की मांग करें तब उनको यह स्वरूप पधरा देना.** (... चरितामृत पृ. ७)

(२) इस आज्ञा के समय सातों बालक उपस्थित थे तत्पश्चात श्रीबालकृष्णजी की सेवा कुछ समय श्रीनवनीतप्रियाजी के साथ चालू रही... कुछ समय बाद श्रीगिरधरजी से तृतीय पीठाधीश्वर श्रीबालकृष्णजी ने श्रीबालकृष्णप्रभु के स्वरूप की सेवा के लिये मांग की... **श्रीगिरधरजी ने स्वरूप इस शर्त से सौंपा कि श्रीयदुनाथजी या उनके वंशज सेवा के लिये वापस मांगें तो बिना संकोच के किसी भी प्रकार की आपत्ति के उनके हक से उनको सेवा पधरा देना. श्रीबालकृष्णजी ने उस शर्त को स्वीकार किया** और श्रीबालकृष्ण प्रभु के स्वरूप को पधरा लिया. **श्रीयदुनाथजी ने इस विषय में खास ध्यान नहीं दिया.** (... चरितामृत पृ. ७).

(३) ...राजा मानसिंग की सहायता से **गोपालपुर में सात स्वरूपों के लिये सात मन्दिर सिद्ध करवाये.** राजा आशकरणदास को बुलाकर मनोरथ की पूर्व तैयारी शुरू की. **राजा आशकरण के समझाने से श्रीयदुनाथजी ने भी मनोरथ में भाग लिया...** सभी स्वरूप पुनः अपने-अपने स्थान को पधारे. **श्रीबालकृष्णप्रभु की सेवा श्रीद्वारिकाधीश के साथ चालू रही** (...चरितामृत पृष्ठ ८).

(४) श्रीद्वारिकाधीश तथा श्रीबालकृष्ण प्रभु जो तीसरी और छठी निधि के स्वरूप थे उनकी सेवा गोस्वामी श्रीबालकृष्णजी के ज्येष्ठ पुत्र श्रीद्वारिकेशजी और **गोस्वामी श्रीयदुनाथजी के ज्येष्ठ पुत्र श्रीमधुसूदनजी** संयुक्त रीति से प्रेमपूर्वक करते थे (... चरितामृत पृ. ८).

(५) श्रीगोकुलनाथजी कुटुंब में बडे थे. उन्होंने श्रीद्वारिकेशजी को बुलाकर कहा कि श्रीगुसांईजी ने जब सातों स्वरूपों का बंटवारा किया तब आज्ञा की थी कि **श्रीबालकृष्णजी**

ठाकुरजी पर श्रीयदुनाथजी के वंशजों का अधिकार है. जब भी श्रीयदुनाथजी के वंशज षष्ठनिधि स्वरूप श्रीबालकृष्णजी को पधराने के लिये आवें तब श्रीबालकृष्णप्रभु को किसी भी प्रकार की हिचकिचाहट के बिना या तकरार के बिना उनको पधरा देना. श्रीगुसांईजी ने यह आज्ञा प्रथम लालजी श्रीगिरिधरजी को तथा तृतीय लालजी श्रीबालकृष्णजी महाराज को की थी और उन्होंने स्वीकार किया था... अतः षष्ठनिधि श्रीबालकृष्ण प्रभु को श्रीमधुसूदनजी को पधरा दीजिये (... चरितामृत पृ. ८).

(६) **संवत् १६३७ में श्रीगुसांईजी ने सातों निधिओं के लिये श्रीगोकुल में सात मन्दिर बनवाये थे उनमें से छठे मन्दिर में श्रीमधुसूदनजी श्रीबालकृष्णप्रभु की सेवा करने लगे... बाद में श्रीबालकृष्णप्रभु ने उनको स्वप्नद्वारा जताया कि मुझे पुनः श्रीद्वारकाधीश के पास पधराओ.** श्रीमधुसूदनजी श्रीबालकृष्ण प्रभु को झांपी में पधराकर श्रीद्वारिकेशजी महाराज के पास आये. उन्होंने स्वीकार करने का इन्कार कर दिया. श्रीमधुसूदनजी पुनः श्रीगोकुलनाथजी के पास पहुंचे और स्वप्न की बात कही, श्रीगोकुलनाथजी की शिक्षा-सलाह से **स्वप्न की बात को प्रभु इच्छा समझकर श्रीद्वारकेशजी महाराज ने श्रीमधुसूदनजी के पास लिखवा कर श्रीबालकृष्णप्रभु को सेवा में पधरा लिया** (... चरितामृत पृ. ९).

(१७) इसके बाद करीब संवत १७१८-१९ में श्रीगिरधरलालजी ने लीलाप्रवेश किया. तब दोनों निधिस्वरूपों की सेवा दत्तकपुत्र श्रीव्रजभूषणजी तथा श्रीजानकी बहुजी और श्रीगंगा बेटीजी करने लगे. दरमियान **श्रीबालकृष्णजी महाराज के चौथे पुत्र श्री-पीताम्बरजी के पौत्र श्रीश्यामलजी महाराज के पुत्र श्रीव्रजराजजी महाराज ने इस दत्तक पुत्रका समाचार काशी में सुना. वे दत्तक पुत्र श्रीव्रजभूषणजी के काका होते थे. इसलिये उन्होंने विरोध उठाया. उन्होंने कहा कि कुटुम्ब में सबसे बड़ा मैं हूं इसलिये श्रीगिरधरजी की गोद में आने का अधिकार मुझे मिलना चाहिये...** परंतु ज्ञाति के पंच समक्ष श्रीगंगा बेटी-जी ने अपने पिताश्रीका दत्तकपत्र पेश किया... परंतु यह सूचन श्रीव्रजरायजी को पसंद न आया. वे आग्रा पधारे औरंगजेब बादशाह के समक्ष फरियाद पेश की. श्रीगंगा बेटीजी श्रीजानकी बहुजी और श्रीव्रजभूषणजी भी आग्रा पधारे और बचाव पेश किया. बादशाह ने फैसला श्रीव्रजरायजी के खिलाफ दिया... परंतु **महावन के कुछ ब्राह्मणों और सशस्त्र सैनिकोंकी सहायतासे श्रीव्रजरायजीने एक रात को श्रीद्वारिकाधीश प्रभु, श्रीबालकृष्ण प्रभु और श्रीमहाप्रभुजी की चरणपादुकाजी का कब्जा लिया** और आग्रा पधारे. श्रीगंगा-बेटीजी आदि भी आग्रा पधारे और बादशाह की बेगम की सहायता से दोनों निधिस्वरूप वापस प्राप्त किये... फिर भी दोनों स्वरूपों की सेवा करने का अपना अधिकार स्थापित करने के लिये वे प्रयत्नशील रहे. **संयोगवश बादशाह से परिचय हुआ उनसे अहमदाबाद के हाकौम के नाम हुकुम प्राप्त किया कि छोटे स्वरूप श्रीबालकृष्णजी जहां हो वहां से खोज कर श्रीव्रजरायजी महाराज को सुपुर्द करा दो** (... चरितामृत पृ. १०).

(८) ...श्रीव्रजरायजी ने नम्रतापूर्वक अपना परिचय देकर **श्रीद्वारिकाधीश पर अपना हक है और इनाम के तौर पर वह मिले ऐसी प्रार्थना की. आग्रा में दिया हुआ**

न्याय बादशाह को स्मरण में था. इसलिये इस बारे में अन्याय करने का उसने इन्कार किया और श्रीव्रजरायजी को कोई और इनाम मांगन को कहा. तब श्रीव्रजरायजी ने प्रार्थना की कि **"मुझे मूर्ति का काम है. यदि मुझे बड़े देव (श्रीद्वारिकाधीश) दिलवाना आप न चाहते हों तो उनके पास छोटे देव (श्रीबालकृष्णजी) हैं वे मुझे दिलवाने की मेहरबानी करें.** इस समय श्रीव्रजभूषणजी सपरिवार अहमदावाद जा बसे हैं. इसलिये वहां के हाकिमपर आप एक आज्ञापत्र लिख दीजिये." (... चरितामृत पृ. ६८).

(९) संवत १७२६ के अंत में उस हुकुम को लेकर श्रीव्रजरायजी अहमदाबाद पधारे. **वहां के हाकिम से लष्करी सहायता लेकर श्रीबालकृष्ण प्रभु को श्रीव्रजरायजी ने प्राप्त किया...** दरमियान श्रीहरिरायजी प्रभुचरण अहमदाबाद पधारे. उन्होंने श्रीव्रजरायजी तथा श्रीव्रजभूषणजी, श्रीजानकी बहुजी और श्रीगंगा बेटीजी के बीच मध्यस्थी रह कर दोनों पक्षों में समाधान करवाया और श्रीव्रजरायजी को श्रीबालकृष्णजी सोंप देने का लेख श्रीव्रजभूषणजी–श्रीजानकी बहुजी और श्रीगंगा बेटीजी से लिखवा दिया. (...चरितामृत पृ. १०).

(१०) श्रीसंवत २७२७ (मूलमें ३७ उल्लिखित है जिसके कारण इसका जाली होना सहज संभव लगता है. और भी अनेक कारण कांकरोलीके इतिहासमें पृष्ठ १५३-१५५ देखे जा सकते है. वैसे भी हस्ताक्षरकर्ताओं के प्रामाणिक हस्ताक्षर के साथ मिलानेके लिये मूल फारगतीपत्र की फोटोप्रति प्रकाशित होनी आवश्यक है). वर्षे प्रथम आसो सुद ३ रवेउ श्रीश्यामलजीसुत श्रीव्रीजराजजी जोग ला, श्रीगंगा बेटी तथा श्रीजानकी बहुजी तथा श्रीव्रीजभूषणजी जत सेवा २ बे अ तथा श्रीपादुकाजीनी सेवा माटे वेवाद हतो. ते अमे अमारा कुलनी रीत समजी छउं तेनी बिगत जे श्रीबालकृष्ण-जीनी सेवा ए हमो आपी तथा श्रीपादुकाजो १ अंके एक श्रीआचारजीनी सेवा श्रीगंगा-बेटीजी आरंगा रहे त्यां सुधी श्रीगंगा बेटीजी पासे रहे पछी श्रीपादुकाजी १ अंके एक श्रीआचारजीनी आपीए तथा द्वारकानाथजी अमारा छे ते अमो पासे रहे, ते एवुं एणी रीते समजावुं छुं, अमारे कशी वातनो विवाद नथी. हरामनदावा बीजुं आज दिन पहेलुं ए विवाद माटे लखुं तथा कागलपत्र मोरामोरी जे पासे थी निकले ते रद छे. आज दिन सुधी कशी वातनु लेवुं देवुं नहीं.

(१) अत्र मतु
\+ बेटी-गंगाबेटीजी मतु
जानकी बहुजी मतु
ऊपर लखुं ते सही.
ला. श्री. व्रजभूषणजी ऊपर लखुं सही.

(१) तत्र साख
अतरशाख श्रीकल्याण रायजीसुत
श्रीहरिरायजी

सुन्दरलाल वेणीलाल

१ (... चरितामृत पृ. ६९)

(११) **"श्रीबालकृष्ण प्रभु की जिन लीलाओं का श्रीमद्भागवत में वर्णन है उनमें से पूतनापयःपान, जृम्भणलीला, शकटभञ्जन, तृणावर्त, मृत्तिकाभक्षण आदि का** श्रीमहाप्रभुजी की श्रीसुबोधिनी अति सुंदर दर्शन कराती है (... चरितामृत पृ. १०)

(१२) प्रतिवादीने (सूरतवाले श्रीगोकुलोत्सवजीने) प्रतिपादन किया कि श्रीविठ्ठलनाथजी के छठे पुत्र ने (श्रीजदुनाथजी ने) दावावाली मूर्ति (श्रीबालकृष्णजी का स्वरूप) **जब प्रथम लेने से इत्कार किया तब वह स्वरूप (सब से बड़े पुत्र) श्रीगिरधरजी को दिया गया. आप (श्रीगोकुलोत्सवजी) श्रीगिरधरजी के वंशज हैं. तीसरे पुत्र श्रीबालकृष्णजी को नहीं दिया गया. पीछे से तीसरे पुत्र श्रीबालकृष्णजी ने श्रीगिरधरजी महाराज से** वापिस करने की शर्त से **लिया** (सेवा के लिये) **और कभी वापस नहीं किया.** इस बात के समर्थन में भाका नाम के ग्रंथ का उल्लेख किया है.

सदर अदालत की ऊपर की सत्य हकीकत को दरसानेवाले श्रीगोकुलोत्सवजी के कथन का वादी श्रीव्रजभूषणजी महाराज की ओरसे प्रतिवाद नहीं किया गया. तथा तीनों न्याय-मूर्तियों ने भी अपने फैसले में उस विषय में कोई टीका नहीं की या अमान्य नहीं रखा, अतः श्रीबालकृष्णप्रभु प्रथम श्रीगिरधरजी के पास थे यह बात सिद्ध है, संदेह का कोई कारण नहीं रहता (Extract from The Borradail's Sudder Adawlut Reports Vol. I Page 206). (... चरितामृत पृ. ६७)

(१३) **अमे श्रीगिरधरजीना घरमां औरसबी आवीए छीए सुरतनुं स्थान दत्तक कमे अमोने आवेलुं. ते श्रीविट्ठलनाथजी ना त्रीजा लालजी श्रीबालकृष्णजी ना घरमां आवे. सूरत नी हवेली शामलजी ना पुत्र श्रीव्रजरायजी महाराजे स्थापित करेली. श्रीव्रजरायजी महाराज श्रीविट्ठलनाथजीना त्रीजा लालजी श्रीबालकृष्णजीना घरमां आवे** (नडियाद केस में श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज की जुबानी बी. बी. देसाई कमिश्नर ऑफ खेरा, सोशिअल सूट नं. २५ ४३ ता. २।११।४६ के दिन पृष्ठ १)

(१४) **श्रीगुसांईजी ने बंटवारा किया था उसके दायभाग में श्रीयदुनाथजी को छठा स्वरूप श्रीबालकृष्णजीका प्राप्त हुआ था इसलिये यह षष्ठनिधि स्वरूप है.** श्रीयदुनाथजी के बिराजमान वंशज श्रीमहाप्रभुजी के सेव्य स्वरूपों की सेवा करते हैं इसलिये उन स्वरूपों को षष्ठनिधित्व प्राप्त नहीं होता. परंतु ऊपर निर्दिष्ट कथन के अनुसार, श्रीगुसांईजीके बंटवारे से श्रीबालकृष्णजी को षष्ठनिधित्व प्राप्त हुआ है (... चरितामृत पृ. ११).

॥ इति षष्ठनिधि अंक समाप्ति ॥

जैसा कि हम कह चुके हैं इस प्रहसन का दूसरा अंक षष्ठपीठ या षष्ठगृह अंक है. पाठकों को आनन्द आयेगा अब यह पढकर कि प्रथम की कितनी सारी बातें द्वितीय अंक में अमान्य कर दी जायेंगी. हम इन्हें उल्लिखित क्रम के अनुसार ही प्रस्तुत

करेंगे, पाठकों को पता लगेगा कि द्वितीय अंक में कथासूत्र कितना बदल गया है, जिन दस्तावेज और प्रमाणों के आधार पर प्रथम अंक में सूरत का घर अपने-आप की विजय मान रहा था वह द्वितीय अंक में करुण पराजय का भीषण हेतु बन जाता है. अतः सर्वथा नूतन कथासूत्र कातने पडते हैं.

अंक द्वितीय : षष्ठ गृह (पीठ) अंक

इस अंक में प्रथम अंकीय विधानों के साथ उपहासास्पद वदतोव्याघात के स्पष्टीकरणार्थ दोनों विधानोंको हम आमने-सामने प्रस्तुत करेंगे–

द्वितीय अंकीय	प्रथम अंकीय
(१) श्रीयदुनाथजीए श्रीबालकृष्ण प्रभु ने लीधा नहीं ए... श्रीयदुनाथजी ना दिव्य अतिदिव्य चरित्र साथे सुसंगत नथी. (श्रीयदु. भाव पृ. १०) श्रीयदुनाथजीए बालकृष्ण प्रभु ने लीधा ज नथी पधराव्या ज नथी ए हडहडतु जूठाण छे. (वहीं पृ. १५) श्रीबालकृष्ण सर्वस्वः ... श्रीबालकृष्णैकहृदयो बालकृष्णैकलोचनो बालकृष्णैकेष्टदेवः, (से. से. र. २२–५८)	उपरोक्त बंटवारे में श्रीयदुनाथजी ने श्रीबालकृष्णप्रभु का स्वरूप छोटा होनेसे आपत्ति उठाई थी (१) श्रीबालकृष्णजी ने उस शर्त का स्वीकार किया और श्रीबालकृष्ण प्रभु के स्वरूप-को पधरा लिया श्रीयदुनाथजी ने इस विषय में खास ध्यान नहीं दिया. (१) दावावाली मूर्ति (श्रीबालकृष्णजी का स्वरूप) जब प्रथम लेने से इन्कार किया तब वह स्वरूप... श्रीगिरधरजी को दिया गया–(१२)

चलो मान लेते हैं कि षष्ठ निधिचरितामृत, जो श्रीवजरत्नलालजी महाराज की आज्ञासे उस वख्त वि. सं. २०३२ प्रकाशित हुआ था वह निरी गप्प थी, परंतु इस द्वितीय अंक के विधान आगामी तृतीय अंक में निरी गप्प नहीं मान लिये जायेंगे इस का भरोसा अब कैसे करना? जिन पर श्रीयदुनाथजी ने पहले खास ध्यान ही नहीं दिया था ऐसे श्रीबालकृष्णजी का स्वरूप अकस्मात् उन का सर्वस्व कैसे बन गया?

(२) सात बालकों से प्रयुक्त उन-उन को बंटवारा में प्राप्त हुए उन-उन गादिओं के घरों के तत्तत् मुख्य सेव्य स्वरूप आज जिन के माथे पर और जहां-जहां बिराजते हैं, उस स्थान को उस गादी के रूप में; और उस के मालिक को उस गादी के अधिपति के रूप में मान्य करना चाहिये.	श्रीगिरधरजी ने स्वरूप इस शर्त से सोंपा कि श्रीयदुनाथजी या उन के वंशज सेवा के लिये वापस मांगे तो बिना संकोच के बिना किसी आपत्ति के पधरा देना. श्रीबालकृष्णजी ने इस शर्त का स्वीकार किया. (२) श्रीबालकृष्णजी ठाकुरजी पर श्रीयदुनाथ-जी के वंशजोंका अधिकार है. जब

("पुष्टिसंप्रदायमें गादीके बारेमें किसी विवादको अवकाश नहीं शीर्षक-वाला वक्तव्य)

इस तरह देखने पर पुष्टिसम्प्रदायमें श्रीगुसांईजी स्थापित श्रीयदुनाथजी के कारण बनती छठी गादी (सूरतके अलावा) कौन सी है इस संबंधमें विवाद का कोई अवकाश नहीं

(वहीं)

इति श्रीयदुनाथ-परंपरोद्भव... वल्लभ-विरचितं श्रीबालकृष्णाष्टकं...

(नू. स्तो. नि.)

इति श्रीयदुनाथ-गृहोद्भव... वल्लभविर-चितं श्रीगोवर्धननाथाष्टकं...

(नू. स्तो. नि.)

इति श्रीयदुनाथ-परंपरोद्भव... वल्लभ-प्रोक्तं श्रीनामकामधेनुस्तोत्रं...

(नू. स्तो. नि.)

इति श्रीयदुनाथ-गृहोद्भव... वल्लभ-विरचितं श्रीयदुनाथाष्टकं..

(नू. स्तो. नि.)

इति श्रीयदुनाथ-परंपरोद्भव... वल्लभ-विरचितं श्रीयदुनाथसप्तरूपाष्टकं...

(नू. स्तो. नि.)

भी श्रीयदुनाथजी के वंशज षष्ठनिधि-स्वरूप श्रीबालकृष्णजी को पधराने आवे तब श्रीबालकृष्ण प्रभु को किसी भी प्रकार की हिचकिचाहट या तकरार के बिना उन को पधरा देना" श्रीगुसांईजीने यह आज्ञा प्रथम लालजीश्रीगिरधरजीको तथा तृतीय लालजी श्रीबालकृष्णजी महाराज को दी थी और उन्होंने स्वीकार किया था (५).

दावावाली मूर्ति (श्रीबालकृष्णजी का स्व-रूप) जब प्रथम लेने से इन्कार किया तब वह स्वरूप... श्रीगिरधरजी को दिया गया. आप (श्रीगोकुलोत्सवजी) श्रीगिरधरजी के वंशज हैं. तीसरे पुत्र श्रीबालकृष्णजी को नहीं दिया गया. पीछे से तीसरे पुत्र श्रीबाल-कृष्णजी ने श्रीगिरधरजी महाराज से वापिस करने की शर्त से लिया (सेवाके लिये) और वापिस नहीं किया (१२).

अमो श्रीगिरधरजीना घरमां औरसथी आवीए छीए. सूरत नु स्थान दत्तक क्रमे अमोने आवेलु. ते श्रीविट्ठलनाथजी ना त्रीजा लालजी श्रीबालकृष्णजीनां घर मां आवे (१३).

इससे सिद्ध होता है कि न तो प्रथम पुत्र श्रीगिरधरजी के वंशजों का और न तृतीय पुत्र श्रीबालकृष्णजी के वंशजों का श्रीबालकृष्णप्रभु पर स्वत्व न्यायपूर्ण हो सकता है. यदि बंटवारे में षष्ठ पुत्र श्रीयदुनाथजी और/अथवा उनके वंशजो के माथे इन श्रीबालकृष्ण प्रभु को पधराने की आज्ञा के कारण इनमें षष्ठनिधित्व आता है तो उसी आज्ञा के कारण श्रीयदुनाथजी के वंशजों के माथे पधरा देने चाहिये, उनके वंशजो का भी यह अधिकार है कि उन्हें मांग लेने चाहिये. सूरत के परिवार का भी यह कर्तव्य है कि जिस निष्ठा से श्रीप्रभुचरणवचन के कारण तथाकथित अपने सेव्य स्वरूप को षष्ठ निधि मानते हैं, वैसी ही निष्ठा के साथ पीठाधीशता का मोह छोड़कर, सच्चे अधिकारिओं-के माथे उनकी निधि पधरा देनी चाहिये, बजाय कि स्वयं को झूठे-झूठे "श्रीयदुनाथ-गृहोद्भव" तथा "श्रीयदुनाथपरम्परोद्भव" कहने के. पितामहादि सभी पूर्वज, जब

अपने-आपको तृतीयगृहोद्भव – प्रथमवंशोद्भव मानते हैं तो ऐसा भी क्या पूजारिपीठ-वाद का मोह कि पौत्र अपने-आपको श्रीयदुनाथगृहोद्भव माने! गृह और परंपरा एक हैं या पृथक् यह भी स्पष्टीकरण करना चाहिये. यह कोटीद्वयावगाहि ज्ञान कि वे स्वयं गृहोद्भव हैं या परम्परोद्भव उनके दावे की अप्रामाणिकता को सिद्ध कर देता है. उल्लिखित स्वीकृतियों के बल पर यह साफ-साफ झलक जाता है कि सूरत का घर अपने-आपको प्रथमपुत्र श्रीगिरधरजी का वंशज माने या तृतीय पुत्र श्रीबालकृष्णजी के घरका, दोनों को केवल सेवा के लिये ही सौंपे गये थे–मांथे पधराये नहीं गये. अतः स्वत्व सिद्ध नहीं होता. सशर्त सुपुर्दगी मालिकाना हक पैदा नहीं करती. अतः दृष्टि बनकर दिये हुए वचन का भंग एवं विश्वास का भंग नहीं करना चाहिये. श्रीबालकृष्ण प्रभु तो श्रीयदुनाथजी और/अथवा उनके वंशजों के मांथे जब बिराजेंगे तथा जहां बिराजेंगे तब ही उनमें षष्ठनिधिता तथा स्थान में षष्ठपीठता सिद्ध होगी. अन्यथा तो कल परदेश पधारते समय मुखियाजी को यदि सुपुर्द करते हैं तो मुखियाजी भी षष्ठपीठाधीश बन जायेंगे. अतएव पूजारिपीठवादिओं की परिभाषा में भी जाने-अनजाने इतनी कबूलात तो हो ही गई है कि "आज जिनके मांथे बिराजते हों." क्या मुखियाजी को सम्हालने की कहने पर उनके मांथे बिराजते माने जा सकते हैं? कबूल किया गया है कि "वापिस करने की शर्त से लिया (सेवा के लिये)." अतः सारे बतंगड बेकार हैं.

(३) प्राचीन साहित्यमां वर्णवेल ऐतिहासिक घटनाओ नो विचार करता तेमज श्रीगुसांईजी ना पत्रो द्वारा ए स्पष्ट थाय छे के श्रीयदुनाथजी सिवाय बाकीना छये बालको नां गृहो-मंदिरो सिद्ध थई गया हता. प्रभुचरण श्रीगुसांईजी पोताना एक पत्रमा लखे छे के –"स्थलविचारं कृत्वा यदुनाथगृहं कारणीयं" एटले श्रीबालकृष्ण प्रभु नी सेवा थई शके तेने अनुरूप स्थल जोई श्रीयदुनाथजी नुं मंदिर सिद्ध करावबुं. (श्रीयदु. भाव. पृ. १२).

बिरोधाभास

आ प्रसंग बन्या पछी बधा स्वरूपो ने लईने गोकुल थी आप गोपालपुर जतीपुरा पधार्या. **साते बालको पोत-पोता ना प्रभु पोता ना मंदिर मांथी गाजतेंवाजते श्रीनाथजी पासे पधरावे एवी व्यवस्था करी.** ते वखते श्रीयदुनाथजी ने इष्ट एवुं सेवा नुं सौकर्य सर्वरीते जलवाय तेवुं मंदिर तेमनुं न हतुं. छोटुं मंदिर हतुं. तेथी आज कारणसर प्रभु ना गौरव नी हानि न थाय ए दृष्टि थी संवत् १६३७ में श्रीगुसांईजी ने सातों निधिओं के लिये श्रीगोकुल में सात मंदिर बनवाये थे (६).

राजा मानसिंग की सहायता से गोपालपुर में सात स्वरूपों के लिये सात मंदिर सिद्ध करवाये (३).

श्रीगुसांईजी ना लीला प्रवेश पछी, श्रीगिरधरजी महाराजश्रीना वचनामृत मुजब –"सो श्रीनवनीतप्रियाजी श्रीगिधरजी महाराज के मांथे बिराजे, और श्रीबालकृष्णजी को श्रीयदुनाथजी पधराय ले गये" ए बिलकुल स्पष्ट हकीकत छे (श्रीयदु. भाव. पृ. १५).

आवुं आपश्रीनुं स्वरूप होई ए मनायज केवी रीते के पोते श्रीबालकृष्ण प्रभुनुं स्वरूप लीधुं नथी अने सेवा करी नथी. हकीकतमां सेवानुं सौकर्य पोताना मंदिरमां न जलवातुं होबाने कारणे भगवत्सुखार्थ आपने उद्वेग रहेतो हतो अने आथी ज मोटाभाई श्रीगिरधरजीए पोताना नाना भाई श्रीयदुनाथजी ना समाधानार्थे पोताने साथे राख्या.. थोडा वखत पछी श्रीगुसांईजीना श्रीजा लालजी श्रीबालकृष्णजीए पोताना नाना भाई श्रीयदुनाथजी ने पोताने घेर साथे हलीमलीने सेवा करवा समजाव्या. (श्रीयदु. भाव. १५–१६).

स्वतंत्र पालखी मां पोते प्रभु ने न पधराव्या. (श्रीयदु. भाव. पृ. १४).

कांकरोलीवाला. श्रीगिरधरजी महाराज १२० वचनामृतोमाना एक वचनामृत मां कहे छे "और अन्नकूट आरोगवे कों पधारे तब श्रीद्वारिकाधीशजी की पालकी में श्रीबालकृष्णजी पधारे. तब श्रीगुसांईजी ने यदुनाथजी सों कही जो तुमने ठाकुरजी लिये होत तो तुम्हारी पालकी न्यारी पधारती और अब तो श्रीद्वारिकाधीशजी के संग तुम्हारे लिये पधारे हैं." अहीं 'तुमने ठाकुरजी लिये होत तो' एनो अर्थ श्रीठाकुरजी यदुनाथजीए लीधा नथी एवो करवानो नथी. कारणके श्रीगिरधरजी महाराजे पोताना एक वचनामृतमां ए स्पष्ट कही दीधुं छे के"बालकृष्णजी कों यदुनाथजी पधराय ले गये (श्रीयदु. भाव. पृ. १४-१५)

वदतोव्याघात की भी सीमा के बाहर सब कथातन्तु यहां काते जा रहे हैं!

हम दिखला चुके हैं कि संवत् १६३७ में सप्त पुत्रों के सप्तगृहों का निर्माण प्रारंभ हुआ था सो संवत् १६४१ में संपन्न हुआ. "स्थलविचारं कृत्वा यदुनाथगृहं कारणीयम्" भी तभी का पत्र है क्योंकि बीरबल के साथ प्रसन्नताशील संबंध यहां द्योतित हो रहें हैं कथमपि संवत् १६४१ में बीरबल के देहावसान के बाद का तो यह पत्र हो ही नहीं सकता. सप्तस्वरूपोत्सव तो बहुत बाद की घटना है. ऐसी स्थिति में इस पत्र के कारण प्रभु को परिश्रम न पडे ऐसा मंदिर तैयार नहीं हो पाया कहना तो "आम्रान् पृष्टे कोविदारान् व्याचष्टे" की गति है. संवत् ३७–४१ के बीच तैयार नहीं हुआ सो संवत् ४१ के बाद तक तैयार ही नहीं हुआ अथवा सुखसुविधाजनक तैयार नहीं हुआ ऐसा किस आधार पर कहा जा सकता है?... चरितामृत में तो स्वीकारा ही गया था कि ३७ में ही गोकुल में तथा बाद में तो जतीपुरा में भी मंदिर सातों के सात तैयार थे. यदि सुखसुविधाजनक मंदिर तैयार नहीं थे तो श्रीयदुनाथजी अपने ठाकुरजी को पधरा कर कहां पधारे? आश्चर्य तो इस बात का है कि स्वयं श्रीयदुनाथभावनिकाकार कहते हैं "श्रीगुसांईजी ना लीलाप्रवेश पछी... श्रीयदुनाथजी पधरा ले गये" अब इसे श्रीगुसांईजी की भूतल पर प्रकट विद्यमानता की अवधि में हुए सप्तस्वरूपोत्सव में पधराये हुए होने का प्रमाण कैसे माना जा सकता है? ऐसी स्थिति में "तुमने ठाकुरजी लिये होते तो" का अर्थ कैसे अन्यथा हो सकता है?

हो सकता है कि तब स्वीकारे न हों परंतु लीलाप्रवेश तक कोई भी मनोवांछित

स्वरूप प्राप्त न हो पाने के कारण अमनोवांछित ही स्वरूप से भी संतोष मानने के लिये पधराना चाहा हो और उसी असंतोष का समाधान पहले श्रीगिरधरजी ने श्रीनवनीतप्रियजी की सेवा में सहयोगी बनाकर, बाद में श्रीबालकृष्णजी (तृतीय पुत्र) ने श्रीद्वारिकाधीशजी की सेवा में सहयोगी बना कर और अंत में या तो स्वयं श्रीयदुनाथजी को या उनके ज्येष्ठात्मज श्रीमधुसूदनजी को श्रीगोकुलनाथजी ने श्रीकल्याणरायजी का स्वरूप पधराकर संतुष्ट करना चाहा होगा. इस तरह यथाश्रुत ही कल्पना क्यों नहीं करनी चाहिये ? हम कह चुके हैं कि सैद्धान्तिक संगति भी इसी वृत्तान्त के साथ सुचारुतया बैठती है. अन्यथा वैभव के लोभवश जैसे आज निजाराध्य को छोडा जा रहा है वैसा ही अपसिद्धांती होने का दूषण श्रीयदुनाथजी में भी खडा होगा. मूलतः यह तीव्रतया भर्त्सनीय कथातन्तु पूजारिपीठवादिता के आत्मघाती मोह का ही दुष्परिणाम है, इसमें किसी भी तरह का संदेह रह नहीं जाता. स्वयं श्रीप्रभुचरण "यदुनाथगृहं" पद-प्रयोग कर रहे हैं फिर भी पूजारिताकी कुमनोवृत्तिवश "मंदिर सिद्ध करावबुं" अर्थ निकाला जा रहा है यह कैसी विडम्बना है !

इसी नंदालय के वैभव के लोभ ने नंदात्मज की पुष्टिभक्ति की दिव्य गरिमा को पूजारि-भगती के व्यावसायिक प्रदर्शनों के द्वारा देवद्रव्य पर पलने की अधोगामी हीनताओं में विकृत कर दिया है. और आज यह दुर्गति है कि पूजारिता का मलिन बिम्ब श्रीयदुनाथजी के निर्मल व्यक्तित्व के दर्पण में प्रतिबिम्बतया खोजा जा रहा है !

वि रो धा भा स

(४) हवे सम्प्रदाय ना प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यो नी रजुआत प्रमाणे विचारीए तो श्रीयदुनाथजी ना मोटा लालजी श्रीधुसूदनजी नहीं पण श्रीरामचंद्रजी छे एवुं प्राचीन वंश कल्पवृक्षो मां मले छे. "श्रीमतो यदुनाथस्य संभूतं पुत्र पञ्चकम् आद्यो श्रीरामचंद्राख्यो द्वितीयो मधुसूदनः"... उपरना श्लोको जेनी रचना श्रीवल्लभाचार्यवंशवर्णनमां श्रीनिर्भयरामजी भट्ट, जेओ कांकरोलीमां रहता अने नीतिवाला श्रीव्रजभूषणजी महाराजना आश्रित हता, तेमणे करी छे, ते द्वारा पण पुष्ट थाय छे... आथी ए स्पष्ट छे के श्रीयदुनाथजी ना मोटा लालजी श्रीरामचंद्रजी ना घर मां वडोदरा नुं श्रीकल्याणरायजी नुं घर आवतुं नथी. श्रीयदुनाथलालजी ना ज्येष्ठ लालजी ना वंश ना घर मां श्रीकल्याणरायजी विराजे छे अने तेथी ते छठी गादी छे एवो जे दावो करवामां आवे छे ते आथी सर्वथा असिद्ध छे (पु. सं. मां. गा. अं. वि. अ. ज नथी.)

स्पष्ट है कि "प्राचीन वंश कल्पवृक्ष" की दुहाई को यदि स्वीकारना है तो "संवत् १८४३ ज्येष्ठ शुक्ल द्वितीयायां रचितोयं कल्पवृक्षः" लिखनेवाले श्रीनिर्भयरामभाई की तुलना में "भक्ति (९) पक्ष (२) मूनि (७) भू (१) विषे रामजन्म तिथिपाय उदित संप्रदायकल्पद्रुम पूर्ण कीन हरषाय" लिखने वाले श्रीविट्ठलनाथ भट्ट अधिक प्राचीन ठहरते हैं. वे श्रीमधुसूदनजी को ज्येष्ठपुत्र मानते हैं, रामचंद्रजी को नहीं. स्वयं निर्भयरामभाई भी श्रीरामचंद्रजी का वंश चला हो यह स्वीकारते नहीं नहीं हैं अतः जैसे श्रीगिरधरजीके ज्येष्ठपुत्र श्रीमुरलीधरजीके वंश न चलनेके कारण तथा श्रीदामोदरजीको प्रधानःगृह दायभागमें मिला एतावता अर्थात् द्वितीयात्मज होनेके कारण उन्हें अथवा उनके वंशजोको प्रधानपीठाधीश मानने में कभी किसीने आपत्ति नहीं उठाई. इसी तरह श्रीमधुसूदनजी यदि कनिष्ठभ्राता हों तो भी आपत्ति क्यों उठानी चाहिये ? जब तक श्रीयदुनाथजी का मुख्य उत्तराधिकार उन्हें दायभाग में निस्सन्दिग्धतया मिला ही था यह स्वीकारने में कोई असंगति न हो.

मूल में इस विवाद को तृतीय अंकः श्रीयदुनाथवंश अंक के बीजावापन के लिये उठाया जा रहा है. कर्णोपकर्ण अफवाहें भी सुनने को मिली हैं कि श्रीरामचंद्रजी के बहुजी ने श्रीव्रजरायजी के हक में गोदनामा या दत्तकपत्र लिख दिया या इसका जाली दस्तावेज प्रकट होने जा रहा है. उसकी पूर्वभूमिकारूपेण "श्रीयदुनाथगृहोद्भव–श्रीयदुनाथपरंपरोद्भव" इतिश्री लिखी जा रही हैं. श्रीयदुनाथजी की भक्ति के वश श्रीयदुनाथजी के वंशजों के साथ ऐसा विश्वासघात यदि शक्य हो तो श्रीयदुनाथजी के साथ द्वेष होता तो न जाने क्या-क्या नहीं होता !

वि रो धा भा स

(५) साक्षात् श्रीमहाप्रभुजी अने श्रीगुसांईजी ना सेवकोने पण श्रीयदुनाथजी प्रत्ये आवो अति आदर केम छे ए रहस्य समजाववा आ (अचिन्त्यशक्तिसंपन्नः) नाम कह्युं छे. जीव कल्पी पण न शके तेवी महाप्रभुजी–गुसांईजी नी समग्र शक्ति थी आप समृद्ध छे. अने भविष्यमां आपश्री औरस (?!) तेमज श्रीव्रजरायजी स्वरूपे श्रीबालकृष्ण प्रभु ने सेववा प्रगटी षष्ठगृह नी पोताना भावरूप परंपराने आगल प्रवर्तावशे तथा ए रीते श्रीमहाप्रभुजी नुं "भुविभक्तिप्रचारैकक्रृते स्वान्वक्रयत्" ए नामने सार्थक करशे ते शक्ति श्रीमहाप्रभु-श्रीगुसांई-

श्रीव्रजरायजी महाराज ने इस दत्तक पुत्र का समाचार काशी में सुना वे दत्तक पुत्र श्रीव्रजभूषणजी के काका होते थे. इसलिये उन्होंने विरोध उठाया. उन्होंने कहा कि कुटुंब में सबसे बडा मैं हूं इसलिये श्रीगिरधरजी की गोद में आने का अधिकार मुझे मिलना चाहिये... परंतु ज्ञाति के पंच के समक्ष श्रीगंगा बेटीजी ने अपने पिताश्री का दत्तक पत्र पेश किया... परंतु यह सूचन श्रीव्रजरायजी को पसंद न आया... आग्रा पधारे औरंगजेब बादशाह के समक्ष फरियाद पेश की... बादशाह ने फैसला श्रीव्रजरायजी के खिलाफ दिया... परंतु महावन के

जी ना सर्वज्ञ (!) सेवको जाणता होवाथी साक्षात् महाप्रभु तरीके आपने संबोधी आदर देडखाता अने ते स्वाभाविक छे.

ब्राह्मणों और सशस्त्र सैनिकों की सहायता से श्रीव्रजरायजी ने एक रात को श्रीद्वारिकाधीश प्रभु, श्रीबालकृष्ण प्रभु और श्रीमहाप्रभुजी की चरणपादुकाजी का कब्जा ले लिया. श्रीगंगा बेटीजी आदि भी आग्रा पधारे और बादशाह की बेगम की सहायता से दोनों निधि स्वरूप वापस प्राप्त किये... (७).

... श्रीव्रजरायजी ने नम्रतापूर्वक अपना परिचय दिया और **श्रीद्वारिकाधीश पर अपना हक है और इनामके तोर पर वह मिले** ऐसी प्रार्थना की. आग्रा में दिया हुआ न्याय बादशाह को स्मरण में था. **इसलिये इस बारे में अन्याय करने का उसने इन्कार** कर दिया.. तब श्रीव्रजरायजी ने प्रार्थना की कि "**मुझे मूर्ति का काम है यदि मुझे बडे देव (श्रीद्वारिकाधीश) दिलवाना** आप न चाहते हो तो उन के पास छोटे देव (श्रीबालकृष्णजी) हैं वे मुझे दिलवाने की महरबानी करे (८).

संवत १७२६ के अंतमें उस हुकुमनामे को लेकर श्रीव्रजरायजी अहमदाबाद पधारे, वहां के हाकिम से लश्करी सहायता लेकर श्रीबालकृष्ण प्रभु को श्रीव्रजरायजी ने प्राप्त किया... (९)

पूर्वस्वीकृत कथानक में न तो श्रीव्रजरायजी की प्रमुख आसक्ति श्रीबालकृष्ण प्रभु में दिखलाई देती है क्योंकि उनकी मुख्य मांग तो श्रीद्वारिकाधीशजी के बारे में थी जिसे छल-बल-कल से किसी भी तरह वे पूरी करना चाहते थे, परंतु वह जब पूरी न हो पाई तब अंत में अचिन्त्य शक्तिवश नहीं किन्तु ओरंगजेब की मेहरबानी के कारण, कि जिस मेहरबानी को करने में प्रसिद्ध अन्यायी ओरंगजेब भी अन्याय मान रहा था, श्रीबालकृष्णलाल हथिया लिये. यदि श्रीरामचंद्रजी के बहुजी ने श्रीव्रजरायजी को गोद लिया होता तो इतने सारे अगडं-बगडं उपायों की श्रीव्रजरायजी को आवश्यकता ही नहीं पडती !

(६) फारगतीनामा तो पुरा जाली लिखा गया लगता है, जिसके हेतु निम्नलिखित हैं–

(क) जब बादशाह के हुकुमनामा के कारण श्रीबालकृष्ण प्रभु मिल ही गये थे तब श्रीव्रजरायजी के हक में फिर से श्रीगंगा बेटीजी आदि को फारगती लिखने की आश्यकता ही क्या थी ?

(ख) श्रीहरिरायजी गुजराती भाषा जानते होंगे परंतु जिस तरह की गुजराती इस पत्र में प्रयुक्त हुई है उस की किसी गैर गुजराती से अपेक्षा रखी नहीं जा सकती.

(ग) दस्तावेज-लेखक गुजराती भी कोई हो तो श्रीगंगा बेटीजी–श्रीजानकी बहुजी तथा श्रीव्रजभूषणजी के हस्ताक्षर देवनागरी–व्रजभाषा में होने चाहिये थे.

(घ) मूल फारगतीपत्र में संवत् १६३७ लिखी गई है जबकि श्रीगंगा बेटीजी भूतलपर बिराज ही नहीं रही थी और श्रीव्रजभूषणजी आदि अहमदाबाद छोड कर मेवाड आ बसे थे.

(ङ) श्रीहरिरायजी तथा श्रीव्रजभूषणजी के तो हस्ताक्षर उपलब्ध होते ही हैं अतः उनके साथ मिलान हो सके एतदर्थ दस्तावेज की फोटो कॉपी क्यों आज तक प्रकाशित नहीं करवाई गई ?

हमारा सुझाव है कि भविष्य में यदि सचमुच में श्रीरामचंद्रजी के बहुजी का श्रीव्रजरायजी के हक में दत्तकपत्र प्रकट करना हो तो ऐसी सारी त्रुटियां उसमें रह नहीं जायें इसकी सावधानी अभी से लेनी आवश्यक है !

(६) सर्व स्वरूपोमां नु मूल स्वरूप नुं सूचक **विरोधाभास** कृष्ण नाम केवल श्रीबालकृष्ण प्रभु ना नाम साथे आवे छे. तेना थी स्पष्ट सूचित थाय छे के सर्वस्वरूपों मां श्रीबालकृष्ण प्रभु सर्व मूलभूत मौलिक स्वरूप छे... (से. से. र. पृ. ८).

श्रीबालकृष्णजी नुं स्वरूप... श्रीमद्भावगत ना प्रमाणप्रकरण थी लईने रासपंचाध्यायी ना फलप्रकरण सुधी अनुस्यूत छे (से. से. र पृ. २).

श्रीबालकृष्ण की जिन लीलाओं का श्रीमद् भागवत में वर्णन है उन में पूतनापयःपान, जृम्भणलीला, शकटभञ्जनलीला, तृणावर्त, मृत्तिकाभक्षण आदि का श्रीमहाप्रभुजी की सूबोधिनी अति सुंदर दर्शन कराती है (११).

आचार्यपीठवाद के अनुसार सेव्य भगवत्सस्वरूप में मूल-तूल का तारतम्य ही अपसिद्धांत है. सभी स्वरूपों में उन के सेवाकर्ताओं को उन के मूलस्वरूप तथा सर्वलीलानुस्यूत स्वरूप होने की निष्ठा रखनी चाहिये. अथवा यथेष्ट जो लीलाभावना एवं स्वरूपभावना अपने स्वरूप की हृदयावर्जक हो वह करनी चाहिये परंतु "गुप्तो हि रसः रसत्वमापद्यते

प्रकटस्तु रसाभास एव" न्याय से पूजारिता की मनोवृत्तिवश अपनी स्वरूपभावना के प्रदर्शनार्थ मनोरथी जुटाने में या द्रव्यार्जनार्थ दुरुपयोग नहीं करना चाहिये. इस विषय में इस से अधिक कुछ हमें विवक्षित नहीं है.

।। इति षष्ठपीठ / षष्ठगृह अंक समाप्तिं ।।

अंक तृतीय : श्रीयदुनाथवंशजता अंक

जैसा कि बतला चुके हैं कि अभी द्वितीय अंक चल रहा है. आगामी अंक अर्थात् श्रीयदुनाथवंशजता अंक के बिनोले तो बो दिये गये हैं कि श्रीरामचंद्रजी ज्येष्ठ पुत्र थे तथा श्रीमधुसूदनजी ज्येष्ठपुत्र नहीं थे. साथ ही साथ वार्ता भी प्रकट हो गई है कि सूरत का गृह श्रीयदुनाथजी की बैठक ही नहीं अपितु श्रीबालकृष्णलाल आज जहां बिराज रहे हैं वहीं सिंहासन के नीचे बैठक है ! भाषा इस की परंतु सूरत की बोलचाल की न होकर चौरासी वैष्णव की वार्ताकी अनुकृति के रूप में प्रयुक्त हुई है. मानों श्रीगोकुलनाथजी की लिखी हुई भाषा न हो ! यह कोई कम चमत्कार है कि श्रीगंगा बेटीजी–श्रीजानकी बहुजी, जो गुर्जरभाषाभिज्ञ हो नहीं सकती वे गुजराती में फारगती लिखे तथा सुरत के मुखियाजी, जो गुजराती भाषा लिख सकते थे वे व्रजभाषा में लिखते हैं ! दुविधा परंतु यह है कि इस बैठक और चबुतरा का ज्ञान सकलशास्त्रनिष्णात श्रीपुरुषोत्तमजी ने दत्तकपत्र में कहीं प्रकट नहीं किया है !

साथ ही साथ श्रीव्रजरायजी को श्रीयदुनाथजी के अचिन्त्यशक्तिसंपन्न अवतारत्वेन भी बिरदाया जा रहा है. इब्तदा ए इश्क है रोता है क्या. आगे-आगे देखिये होता है क्या ! अभी तो और भी आकर्षक रंगबिरंगे कथातन्तु काते जानेवाले हैं.

श्रीबालकृष्णलाल को मूलस्वरूप बताकर तथा सर्वलीलानुस्यूत स्वरूप बताकर सभी पीठाधीशों को, यहां तक कि गोस्वामितिलकायितश्री को भी, छिपे शब्दों में धमकी दे दी गई है कि अभी जो षष्टपीठ नहीं माना गया तो आगामी चतुर्थ अंक में, श्रीबालकृष्णप्रभु के प्रमुखतम निधि होने के कारण, सूरतका घर वाल्लभ संप्रदाय में प्रधानपीठ होने का भी दावेदार हो जायेगा–तथा एतदर्थ प्राचीन वार्ता दस्तावेज तथा स्तोत्रावली नामावली भी प्रकट हो ही जायेंगी !

सितारों से आगे जहां और भी हैं
मुकामाते आहो फुगां और भी हैं
अगर लुट गया इक नशेमन तो क्या गम
तेरे सामने आशियां और भी हैं.

आईये अभी कुछ वर्ष प्रतीक्षा करनी पडेगी तृतीय अंक तथा चतुर्थ अंक के विचित्र कथातन्तुओं की !

प्रहसन तो हंसने के लिये होता है और इन उपहासास्पद बातों पर हंसी भी आती ही है. परंतु साथ ही साथ रोना भी आता है कि मूलतः हमारे संप्रदाय में भक्ति, भक्त तथा भजनीय भगवत्स्वरूप के बारे में श्रीमहाप्रभु की कैसी उदात्त भावनायें थी, फिर भी विगत अनेक वर्षों से महामारी की तरह श्रीमदाचार्यवंशजों में पूजारिता की कुमनोवृत्ति घर कर गई है. रोग काफी व्यापक तथा गहरा है. षष्ठपीठ का विवाद तो उस सारे शरीर में व्याप्त केन्सर का हाल में रिसने लगा केवल एक नासूर है. इस रोग की चिकित्सा नहीं हुई तो वस्तुतः संप्रदाय का भविष्य क्या होगा यह कहने की बात नहीं है. श्रीपुरुषोत्तमजी के घर में शास्त्रों के अध्ययमादि करने के बावजूद यदि सिद्धान्त-अपसिद्धान्त के भेद को भूल कर केवल पूजारिपीठवाद का ही मोहवश अनुसरण किया गया तो उन अपठितों का क्या हाल होगा जो किसी न किसी कारणवश स्वसिद्धान्त का अध्ययन ही नहीं कर पाये और न आचार्यजनोचित आत्मविश्वास ही अपने आप में जुटा पाये हैं ? परिणामरूपेण पूजारिता के गर्त में अधःपतित होने को जो अभिशप्त से हैं, उनका क्या होगा ?

सूरत के पौरुषोत्तम घर से सिद्धान्तोद्घोष की अपेक्षा रखी जा सकती है; फिरभी वहीं से अपसिद्धान्तों के मोहजाल का प्रसार देख-सुनकर हृदय व्यथित हो जाता है–

श्रीमद्वल्लभवंशवृक्षजनितं भक्त्येकरूपं फलं
भूयात् तद् भुवि भोग्यभावभरितं कृष्णैकतोषे परम् ।
वृथ्यर्थं भगवत्प्रदर्शनविधौ पातित्यमासादयत्·
कष्टं भो कलिकाकदष्टमिह तद् दृष्ट्वापि सीदेन्न कः ?।।

।।इस तरह गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मज–श्याममनोहर-विरचित–"पुष्टिमार्गीय पीठाधीशः स्वरूप और कर्तव्य" का प्रथम प्रकरण समाप्त होता है ।।

।। बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु ।।

परिशिष्ट

(सप्तमपीठाधीश गोस्वामी श्रीघनश्यामलालजी महाराज का मननीयतम लेख)

सदैन्य निवेदन

श्रीनाथद्वारा ठिकाने के प्रबंध के लिये दिल्ली में जो योजना हुई है वह संप्रदाय के सिद्धांतों से सर्वथा विरुद्ध है। अतः उसकी कलमों की संप्रदाय के इतिहास और सिद्धांत प्रणाली आदि से इस लेख में आलोचना की है। इस आलोचना से हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि संप्रदाय की प्रणाली की सुरक्षा हो और इस योजना को सिद्धांतानुकूल बनाकर ही इसका अमल किया जाय! जिससे संप्रदाय का रूप सुरक्षित रहे और श्रीनाथजी के मंदिर पर संप्रदाय का विशेषतः गोस्वामि वंशजों का स्वत्व कायम रहे। प्रत्येक आचार्य वंशज और विद्वान् वैष्णव इस योजना के गुण-दोषों पर विचार करके अपनी अपनी संमति को स्वतंत्र रूप से प्रकाशित करें या किसी प्रकाशन संस्था द्वारा प्रकाशित करावें, यह नितांत आवश्यक है। इस समय मौन रहना संप्रदाय के प्रति द्रोह करना है ऐसा मैं मानता हूँ। श्रीनाथजी की सुखद सेवा जो आज तक संप्रदाय में चली आ रही है वह इस योजना से बहुत ही शीघ्र तिरोधान होने की पूर्ण संभावना है। इसीलिये इस योजना के विरोधार्थ मैंने "श्रीनाथद्वारा सांप्रदायिक मर्यादा सुरक्षा समिति" मथुरा का, जिसने आज दो मास में सारे भारत के प्रमुख वैष्णवों में सुंदर और व्यापक प्रचार किया है, और बंबई और नाथद्वारे में भी अपना प्रचार केन्द्र खोला है, प्रमुख पद स्वीकार किया है। इसके जरिये मैं व्यापक संगठन और प्रचार की एक योजना बना रहा हूं। इससे मुझे उम्मीद है कि पुष्टि-सृष्टि में नई चेतना पैदा होगी। हमारे इस कार्य में समस्त पूजनीय आचार्य-वंशजें हमें आशीर्वादात्मक सहयोग प्रदान करेंगे, और वैष्णवगण सहायक होंगे, ऐसी मैं आशा करता हूं। अंत में मैं आचार्यचरणों से सदैन्य रुरुदुसुस्वर में प्रार्थना करता हूं कि वे

प्रस्तुत निबंध में चर्चित अनेक विवादास्पद मुद्दे यथा देवद्रव्य, संप्रदायप्रणाली से विपरीत भोग धरी सामग्री का प्रसाद ग्राह्य है कि नहीं, किस तरह की भेट ग्राह्य है अथवा किस तरह की भेट सेवार्थ ग्राह्य नहीं है आदि विषयों का सिद्धान्तशुद्ध विचार, समादरणीय श्रीघनश्यामलालजी ने इस "श्रीनाथद्वारा ठिकाने के प्रबंध की दिल्ली योजना की आलोचना" में किया हैं. सभी पुष्टिमार्गीयों के लिये यह सर्वदा मननीय तथा प्रेरक लेख है. अतः हम भी सकृतज्ञतया इसे यहां समाविष्ट करते हैं.

गोस्वामी श्याममनोहर

हमें इस बहिर्मुख कराने वाले काल की बाधक प्रवृतियों से बचावें और हमारे प्रमुख आश्रय केन्द्र श्रीनाथजी को हमसे पृथक् न होने दें। हम असहाय और निःसाधन हैं और आप निःसाधन जनों के आश्रय रूप और विशेषतया स्ववंश के पक्षपाती हैं। इसलिये आप श्रीनाथजी से हमें बहिर्मुख न होने देंगे। 'रोषदृक्पात संप्लुष्ट भक्तद्विट्' ऐसे आप ही इस असहाय परिस्थिति में हमारे रक्षक हो यही पुनः प्रार्थना है।

आपका एक दीन वंशज–

गो. घनश्याम

मथुरा–१–२–५६)

का कोटिशः दंडवत् प्रणाम

* विजयते श्रीमदनमोहनः प्रभुः *

श्रीनाथद्वारा ठिकाने के प्रबन्ध की

दिल्ली योजना की आलोचना

[आलोचक : **पू० पा० गो० श्रीघनश्यामलाल जी महाराज, सप्तम गृहाधीश, कामवन**]

श्रीनाथद्वारे ठिकाने के प्रबंध की नवीन योजना, जो दिल्ली में बनी है, वह पुष्टिमार्ग के इतिहास और सिद्धांत से नितांत विरुद्ध है। इससे यह ज्ञात होता है कि इस योजना का निर्माण पुष्टिमार्ग के इतिहास और सिद्धांतों से जो अनभिज्ञ हैं उन व्यक्तियों द्वारा हुआ है। और जिन सरकारी शासकों के समक्ष इस योजना के निर्माताओं ने इसे रखा है, उनको भी उन्होंने संप्रदाय के इतिहास और सिद्धांतों से वञ्चित रखने का ही प्रयत्न किया है। अन्यथा वे शासक व्यक्ति, जो धर्म और न्याय-प्रिय हैं. इस योजना को समस्त आचार्य-वंशजों और वैष्णवों की संमति प्राप्त किये बिना कभी स्वीकार नहीं करते।

पुष्टिमार्ग के इतिहास से यह सिद्ध होता है कि श्रीनाथजी श्रीवल्लभाचार्यजी के आराध्य देव हैं। श्रीआचार्यचरण ने वि. सं. १५४९ में श्रीनाथजी की आज्ञा होने पर व्रज में पधार कर सर्व प्रथम श्रीनाथजी को गोवर्द्धन पर्वत में से प्रकट किये और एक कच्चा छोटा मंदिर सिद्ध करके उसमें श्रीनाथजी को पाट पधराये थे। उस समय वे स्वयं पृथ्वी परिक्रमा में होने के कारण श्रीनाथजी की सेवा का संपूर्ण कार्य उन्होंने बुन्देलखण्ड के रामदास चौहाण क्षत्री को सेवक करके सौंपा था। और नेग भोग के प्रबंध के लिये आपने अपने सेवक सदूपांडे आदि आन्योर के व्रजवासियों को आज्ञा दी थी।

वि. सं. १५५६ में जब पूरणमल क्षत्री अंबाला से श्रीनाथजीका मंदिर सिद्ध कराने के लिये व्रज में आये और रामदासजी से श्रीनाथजी का मंदिर सिद्ध कराने के लिये आज्ञा मांगते हुए कहा कि मुझे श्रीनाथजीने मंदिर सिद्ध कराने के लिये प्रेरणा की है इसलिए मैं आया हूं। तब रामदास और सदूपांडे आदिने कहा कि श्रीनाथजी श्री-

वल्लभाचार्यजी के ठाकुर हैं, अतः उनसे पूछकर उनकी आज्ञा से ही मन्दिर सिद्ध हो सकता है। फिर जब वल्लभाचार्य जी व्रज में पधारे तब पूरणमल क्षत्री ने उनसे श्रीनाथजी के मंदिर सिद्ध कराने की श्रीनाथजी की इच्छा को प्रकट करते हुए आप से उस कार्य को संपन्न करने की आज्ञा मांगी। तब श्री आचार्यचरणने प्रथम पूरणमल को ब्रह्म-संबंध करा कर सेवक किया, और फिर गुरु-सेवक के संबंध से उसका द्रव्य अङ्गीकार करके उसको मंदिर सिद्ध कराने की आज्ञा प्रदान की। इस से यह सिद्ध होता है कि श्रीनाथजी श्रीमहाप्रभुजी के स्वतंत्र मालिकी के आराध्य देव हैं।

श्रीआचार्यचरण के पुत्र श्रीगोपीनाथजी और श्रीविठ्ठलनाथजी हुए। आचार्य-चरण के पश्चात् श्रीनाथजी पर पूर्ण अधिकार वारिस रूप से इन दोनों का रहा। श्रीगोपीनाथजी और उनके एक मात्र पुत्र श्रीपुरुषोत्तमजी बहुत कम समय तक भूतल पर रहे इससे श्रीआचार्यचरण के द्वितीय पुत्र श्रीविट्ठलनाथजी का ही श्रीनाथजी पर पूर्ण अधिकार रहा। उनके पश्चात् वारिस रूप से उनके सात पुत्रों को श्रीनाथजी की सेवा का समान अधिकार प्राप्त हुआ। और अब तक वह अधिकार उनके वंशजों के पास बराबर सुरक्षित रूप से कायम है।

श्रीविठ्ठलनाथजी के प्रथम पुत्र श्रीगिरिधरजी थे। उनको ज्येष्ठत्व के नाते अपने गोकुलगृह के निजी सेवनीय स्वरूप श्रीनवनीतप्रियजी स्वपितृचरण ने विशेषमें दिये। और श्रीनाथजी के उत्सवादि के सेवा शृङ्गार तथा प्रबंध कार्य भी उनको सौंपा गया। इससे पूर्व सात पुत्रों के बटवारे में गृह-सेवार्थ श्रीमथुरेशजी उनके माथे पहिले ही से पधराये गये थे। जिस प्रकार श्रीगिरिधरजी को श्रीविट्ठलनाथजीने गृह-सेवार्थ श्रीमथुरेशजी पधराये थे, उसी प्रकार अन्य छहों पुत्रों को भी गृह-सेवार्थ आचार्यचरण की छह प्रमुख अन्य निधियां पधरायी थीं, जो संप्रदाय में प्रसिद्ध हैं।

आचार्यचरण और श्रीविट्ठलनाथजी के पास जो कुछ भी संपत्ति थी वह उनकी निधि स्वरूप ही थी। अतः वे ही निधि स्वरूप उनके वंशजों को वारसा में प्राप्त हुए हैं। इसीलिये उनके वंशजों को उन पर स्वतंत्र स्वत्व कायम है, और श्रीनाथजी की सेवा पर भी सभी वंशजो का स्वतंत्र रूप से अधिकार आज तक चला आ रहा है।

मुगल साम्राज्य में हिन्दू धर्म पर आपत्ति आने के कारण से अनेक आचार्य वंशज अपने धर्म तथा निधि सेव्य स्वरूपों के रक्षार्थ राजपूताने में धर्म-प्रिय राजपूत राजाओं की उत्कण्ठा से निजी सेवनीय स्वरूपों पर स्वतंत्र अधिकार रखते हुये उनके [illegible] पूर्णार्थ पधारे। और उन राजा महाराजाओं ने भाव पूर्वक सेवक [illegible]

वंशजों को अनेक प्रकार की संपत्तियाँ भेंट की। उनको स्वतंत्र रूप से राज्य के किसी भी प्रतिबंध के बिना अपने सेव्य स्वरूपों को अङ्गीकार कराई। और जब जब राज्य की ओर से कोई प्रतिबंध उपस्थित किया गया वा धर्म की हानि होती हुई देखी तब तब उन प्रतापी वंशजें उन सर्व संपत्तियों को त्याग कर अपने वारसा में प्राप्त आध्यात्मिक आधिदैविक पुष्टि-भक्ति संपत्ति रूप निधि स्वरूपों को अन्यत्र पधरा कर ले गये। किंतु उन्होंने कभी भी भौतिक संपत्ति के प्रलोभन में आकर अपने धर्म विरुद्ध राज्य-सत्ता को स्वीकार नहीं किया। उनके प्रमाण स्वरूप माला प्रसंग से लेकर आज तक के जयपुर, अमरेली, शेरगढ़ कोटा आदि के अनेक सुवर्णाङ्कित उज्ज्वल इतिहास पुष्टिमार्ग में प्राप्त और प्रसिद्ध हैं। आचार्य वंशजोंने भूतकाल में और विद्यमान समय में भी अनेक सङ्कटों को सह कर अपने सेव्य स्वरूपों की रक्षा की है और कर रहे हैं। अस्तु:

इन सब प्रमाणों से यह निश्चित होता है कि आचार्य वंशजें अपनी वास्तविक संपत्ति अपने सेव्य निधि स्वरूपों को ही मानते हैं, इनमें श्रीनाथजी मुख्य हैं। श्रीनाथजी के ऊपर संपूर्ण रूपेण समस्त आचार्य-वंशजों का परंपरागत अधिकार प्राप्त है। अत: श्रीनाथजी किसी को सौंपने में तिलकायत सर्वतंत्र स्वतंत्र नहीं हैं। श्रीनाथजी की सेवा सुचारू रूप से सुव्यवस्थित प्रकार से हो इसके निरीक्षण के लिये ही समस्त आचार्य वंशजोंने श्रीतिलकायतजी को अपने मुकुट-मणि रूप से माना है। फिर भी जब कभी श्रीनाथजी की सेवा-सुचारू रूप से होती हुई देखने में नहीं आई है, तब प्रभावशाली तथा निकटवर्ती आचार्य वंशजों ने उस में समय समय पर हस्तक्षेप भी किया है, जिसके आज तक के अनेक प्रमाण इतिहास में विद्यमान हैं।

आधुनिक श्रीतिलकायत की नाबालगी अवस्था में वैष्णवों की जो समिति मंदिर के केवल उस समय तक के प्रबंधार्थ हुई थी वह नाबालगी की हैसियत से ही हुई थी न कि तिलकायत से सदा सर्वदा के लिये अधिकार प्राप्त कर स्वतंत्र प्रबंध करणार्थ हुई थी। इसी कारण से अन्य आचार्य वंशजों ने उस समय हस्तक्षेप नहीं किया था।

यह योजना जो इस समय निर्माण हुई है वह सर्व आचार्य वंशजों के स्वत्व विनाश करने के लिये हुई है। अत: सर्व आचार्य वंशजों का कर्त्तव्य है कि अपने स्वत्व की रक्षा के लिये कटिबद्ध होकर प्रयत्नशील हो। क्योंकि संप्रदाय के मुकुट-मणि रूप से आराध्य देव हमारे श्रीनाथजी हैं। और संप्रदाय का प्रतिनिधित्व धराने वाले आचार्य वंशज ही हैं, न कि अन्य वह इसलिए कि आचार्यों के द्वारा ही संप्रदायका

प्रचार होता है और श्रीनाथजी की सेवा के निर्माण व रक्षा करने वाले भी यही हैं, न कि पूंजीपति। अत: वे लोग हमारी संप्रदाय के प्रतिनिधित्व धरानेवाले सर्वथा नहीं माने जा सकते हैं। इसलिये नवीन योजना में नं. ७ पर दिया जो लेख (प्रबंध कमेटी में कम से कम ७ सदस्य और अधिक से अधिक ११ सदस्य होंगे, जो जहां तक संभव होगा समस्त देश के पुष्टिमार्गीय और वल्लभ संप्रदाय का प्रतिनिधित्व करते होंगे) असंबद्ध है। क्योंकि "संप्रदाय के नियम निश्चय आदि के अनुसार" आचार्य ही इस संप्रदाय के सर्व विधि प्रतिनिधित्व धराने वाले होते हैं और आज तक रहे हैं।

योजना नं. ३ की (ग) कलम में (हिंदू धर्म की साधारणतया तथा वैष्णव धर्म संप्रदाय की विशेषतया उन्नति करना और वह सब कार्य करना जो इन कार्यों के सहायक व आवश्यक हो) तथा योजना नं. ३ की (घ) कलम में (पाठशाला, स्कूलों, गौशालाओं तथा अन्य संस्था व कार्यों को धार्मिक विद्या संबंधी तथा मजहब संबंधी हो चलाना, कायम रखना, व सहायता करना) और योजना नं. ३ की (च) कलम में (समस्त वैष्णवों की हर प्रकार की भलाई व आध्यात्मिक उन्नति की देख-रेख करना यह तीनों कलम संप्रदाय के सिद्धांत से विरुद्ध हैं। क्योंकि श्रीवल्लभाचार्यजी ने वैष्णवों की आध्यात्मिक उन्नति के लिये ही पुष्टिमार्ग को प्रकट किया है। उसमें भगवान् की कृपा का ही, जो केवल उनके अनन्य शरण से ही प्राप्त हो सकती है। एक मात्र अवलंबन माना है। अत: भगवत्कृपाके साधनरूप अनन्य शरण को सिद्ध करने के लिये आपने भगवत्सेवा का निर्माण किया है। इस सेवा को आचार्य प्रतिपादित सेवा-प्रणाली से अनुसरने वाले जीव ही वास्तव में अपनी और दूसरों की भी उन्नति कर सकते हैं। आचार्य प्रतिपादित सेवा-प्रणाली में अहंभाव के नाश पूर्वक दासभाव की नितांत अपेक्षा मानी गई है। जो भगवान और भगवान के तदीय जनों की दासत्व भाव से निरपेक्ष रूप में सदैव सेवा करता है वही सच्चा उन्नायक है। किंतु जिन्होंने लक्ष्मी के दासत्व को स्वीकार किया है और राज्यबल, धनबल और अधिकार बल का ही एक मात्र आश्रय किया है और इन तीनों में मदांध हो रहे हैं ऐसे व्यक्ति संप्रदाय की क्या उन्नति कर सकते हैं?

जो संप्रदाय के सिद्धांतों से नितान्त अपरिचित है, पुष्टिमार्ग और सेवा की व्याख्या पूछने पर भी नहीं समझा सकता है वह धार्मिक विद्या संबंधी कार्यों को किस प्रकार सुचारू रूपसे चला सकता है और कायम भी रख सकता है?

वैष्णवों की आध्यात्मिक उन्नति वे ही कर सकते हैं जो पुष्टिमार्गीय धर्मों से परिचय संपन्न हो। इसी प्रकार हिन्दू धर्म की उन्नति भी वही कर सकता है जो उस

धर्म के प्रधान चिन्ह शिखा-सूत्र को आग्रहपूर्वक सविधि धारण करता हो। शिखा–सूत्र से हीन व्यक्ति हिन्दू धर्म की क्या उन्नति कर सकता है?

नं. ३ की (घ) धारा संप्रदाय के सिद्धांत से नितांत विरुद्ध है। क्यों कि श्री-नाथजी की सेवार्थ जिस द्रव्यकी आय होती है, उस द्रव्य को प्रभु की सेवा से वंचित करके पाठशाला स्कूल आदि में लगाना प्रणाली और न्याय से विरुद्ध है। क्यों कि जो भी भावुक वैष्णव वृंद सेवार्थ द्रव्य का समर्पण करते हैं उस द्रव्य को भगवद सेवार्थ न लगा कर अन्य कार्यों में व्यय करना, जो कार्य कोई भी अंश में श्री नाथजी से संबंध नहीं धराते हैं, सर्वथा अनुचित है। क्यों कि अन्य कार्यों में तो वे व्यक्ति स्वयं ही अपना द्रव्य लगा सकते हैं। दृष्टांत बतौर श्रीनाथद्वारा ता. १०-१-५५ को हुई ग्यारह सदस्यों की बैठक में, जिसमें केवल ८ सदस्य ही उपस्थित थे, उसमें एक लाख तीस हजार का व्यय करके तीन मास में नाथद्वार में २४ घंटा चल सके ऐसा A. C. करंट के पावर हाउस के बनाने का निर्णय किया गया। इस प्रकार श्रीनाथजी के भोग सामिग्री अर्थ आये हुये द्रव्य का अपव्यय करना बड़ा ही अनुचित है। श्रीनाथजी के लिये A. C. करंट के पावर हाउस निर्माण करने से कोई सुख नहीं हो सकता है। यह एक महान् हास्यास्पद विषय है। श्रीनाथजी की व्यवस्था की आड़ लेकर भौतिक सुखों में द्रव्य का अपव्यय करना ही इस योजना का ध्येय प्रतीत होता है।

योजना की कलम ३ (ड-) में (श्रीतिलकायत महाराज के दस्तूर को इज्जत तथा सम्मान के साथ कायम रखना जैसा कि धार्मिक तथा आध्यात्मिक वैष्णव संप्र-दाय के सर्वोच्च व्यक्ति का होता है) लिखा है वह भी नितांत भ्रामक है। क्योंकि श्रीमान् तिलकायत श्री के दस्तूर तथा इज्जत जब ही कायम रह सकता है जबकि तिलकायत श्री स्वयं श्रीमद्वल्लभाचार्यजी के पुष्टि संप्रदाय के संरक्षक रूप से कमिटि पर वर्चस्व धराते हो तथा श्रीआचार्यचरणों के प्राणप्रेष्ठ आराध्य देव की सेवा का स्वयं निरीक्षण करने में तत्पर हो। और उनकी आज्ञानुसार सेवा का कार्यक्रम चलता हो, अन्यथा वाचारम्भण मात्र है।

योजना की कलम नं. ८ में श्रीतिलकायत को सभापतित्व दिया गया है किन्तु योजना कलम नं. १८ में लिखा है कि सभापति की अनुपस्थिति में कोई भी बैठक के सदस्य को सभापति चुन लिया जाय। इससे ज्ञात होता है कि तिलकायत श्री का सभापतित्व सदैव के लिये नहीं है, अन्यथा उनकी अनुपस्थिति में उनकी आज्ञानुसार किसी सदस्य को अपने प्रतिनिधि रूप में वे नियुक्त कर सके ऐसी कलम योजना में

रह सकती थी। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सभापति को अपना प्रतिनिधित्व चुनने का व भेजने का भी अधिकार नहीं है।

योजना की कलम नं. १९ लिखा है कि "प्रबंध कमेटी की बैठक में जवाहरात, सोना व चांदी की वस्तुओं अन्य खिलौने तथा इनके संबंधित चीजों की बिक्री अथवा किसी भी अचल संपति की बिक्री या इन्तकाल व रहन इत्यादि के संबंध में कोई भी निर्णय बैठक के उपस्थित ⅔ सदस्यों के बहुमत से वोट डालकर किया जावेगा। श्रीनाथजी की जवाहरात तथा सोने व चांदी की वस्तुएं तथा खिलौना आदि की बिक्री जब ही हो सकती है जब कि श्रीनाथजी के अंगत भोग में किसी प्रकार द्रव्य की आय नहीं रहे और वह भी श्रीनाथजी के भोगादि के काम में ही आ सकती हो। क्योंकि श्रीनाथजी स्वयं उसके भोक्ता हैं। किन्तु वैष्णव वृन्द तथा सेवक गण भी उसके महाप्रसाद लेने तक के अधिकारी नहीं हैं। यह श्रीआचार्यचरण के इति-हास से प्रत्यक्ष प्रमाण भूत हैं। उसके महाप्रसाद लेने का केवल गायों का ही अधिकार है। अन्यथा उस देव-द्रव्य के उपभोग करने से निश्चय ही अधःपतन है।

और पावर हाउस जैसे निरर्थक कार्यों में अतुल धन राशी का अपव्यय करके द्रव्य का अभाव पैदा करना यह भी न्यायसङ्गत नहीं है।

योजना कलम नं. २५ (ख) के अंतर्गत (समस्त सेवकान कर्मचारियों की नियुक्ति करना और उसको चालू रखना, जिनमें मुनीम, मेहता, और ऐजेन्ट, चौकीदार और अन्य सब सम्मिलित हैं, परंतु मुखियाजी व छोटे मुखियाजी इसमें सामिल नहीं हैं। इत्यादि) यह लेख भी त्रुटि पूर्ण है। क्योंकि जिस प्रकार दोनों मुखियाजिओं को तिलकायत श्री की संमति से कमेटी नियुक्त तथा पृथक करेगी उसी प्रकार समस्त सेवक जो श्रीनाथजी की भीतर की सेवा का अधिकार धरावे हैं। उन समस्त सेवकों की नियुक्ति तिलकायत श्री की आज्ञा के बिना होना संप्रदाय के सिद्धांत के विरुद्ध है। संप्रदाय के नियमानुसार वैष्णव के घर भी जो सेव्य स्वरूप विराजते हैं उनके यहाँ भी आचार्य-वंशजों द्वारा ही आज्ञा लेकर अपने घर के सेव्य स्वरूपों की सेवा का भी अधिकार प्राप्त होता है। तो फिर आचार्य–वंशजों के यहाँ बिना उनकी आज्ञा कैसे सेवा हो सकती है। श्रीनाथजी का गृह श्रीवल्लभाचार्यजी का है। अतः उनके वंशजों की आज्ञा बिना श्रीनाथजी की कोई भी सेवा कोई सेवक स्वयं नहीं कर सकता है। और कमेटी में जो वैष्णव हैं वे सब संप्रदाय के सिद्धांत अनुसार दास हैं। अतः वे अपने गुरुघर में गुरु–वंशजों की अनुमति प्राप्त किये बिना न तो किसी भी प्रकार का स्वयं अधिकार ही कर सकते हैं। न सेवा की आज्ञा देने के ही अधिकारी हो

सकते हैं। इस नियम के विरुद्ध कमेटी सेवकों की नियुक्ति आदि करेगी तो उनके हाथ से सिद्ध की हुई सामिग्री आदि तथा जल प्रभृति को श्रीनाथजी, जो कि पुष्टि-मार्ग की प्रणाली के अनुसार श्रीआचार्यजी की का'न (मर्यादा) से ही अरोगते हैं वे कदापि अङ्गीकार नहीं कर सकते। उस हालत में आचार्य-वंशजें और पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त के आग्रही वैष्णवें उस तथाकथित महाप्रसाद को सर्वथा नहीं ले सकते।

योजना की नं. २५ (ञ) कलम में जो अधिकार कमेटी को दिया गया है। (पब्लिक के प्रवेश के लिये दरकार हो और संपत्ति की हद्दके अंदर प्रबंध तथा शांति के रखने के लिए आवश्यक हो) वह तथा उसकी कलम नं. २५ (ढ) का (उक्त संपत्ति के प्रबंध तथा पूर्णतया स्वामित्व रखने के लिये आवश्यक हो करना) लेख यह दोनों संप्रदाय की प्रणाली तथा शास्त्र मर्यादा को गौण रखते हुए संपत्ति की ही प्रधानता को दृष्टि के सामने रखकर लिखा गया है। क्यों कि संप्रदाय की प्रणाली और धार्मिक सिद्धांतों के विरुद्ध हो ऐसे 'पब्लिक प्रवेश के दरकार' को मान्य रखना क्या उचित है? सत्य तो यह है कि हमारे संप्रदायकी प्रणाली की रक्षा हो उसी तरीके और उसी प्रकार के स्वामित्व में रहनेवाली जो संपत्ति है उसका ही प्रबंध करना योग्य है। हमारी संस्कृति के विरुद्ध करोड़ों रुपयों की संपत्ति भी मिलती हो और जिस संपत्ति से हमारी संस्कृति व प्रणाली का नाश होता हो उसके प्रलोभन में आकर संप्रदाय पर सदैव के लिये कलंक लगाना न तो आचार्य वंशजों के लिये शोभास्पद होगा न संप्रदाय प्रेमी वैष्णवों के लिये। पुष्टिमार्ग का आज तक का इति-हास इस बात का साक्षी है कि ऐसी अखूट संपत्तियों का भी स्वयं आचार्यचरण से लेकर आज तक के उनके वंशजोंने प्रसन्नता पूर्वक त्याग किया है। क्योंकि आचार्य वंशजें ही संप्रदाय के सच्चे प्रतिनिधि और उनकी संस्कृति के सुरक्षक हैं। अतः वे यदि अपनी कर्त्तव्य परायणता को छोड़ कर भौतिक सुखों की इच्छा से संपत्ति की रक्षाको ही अपना एक मात्र ध्येय बनावें तो वे स्वयं आचार्य-सिद्धांत के द्रोही कहे जा सकते हैं। आचार्य चरण का तो यह स्पष्ट सिद्धांत है कि "तत्त्यागे दूषणं नास्ति यतः कृष्ण बहिर्मुखाः। अनुकूलस्य संकल्प : प्रतिकूल विसर्जनम् ॥४॥" अतः बहिर्मुख जन धन का त्याग और विसर्जन ही आचार्यचरण का एक आदर्श सिद्धांत है।

योजना कलम नं. ३२ जिसमें सर्व प्रकार के दान चढ़ावों व वसूल वसूली करने का उल्लेख किया गया है वह भी संप्रदाय के सिद्धांत के नितांत विरुद्ध है। हमारे संप्रदाय की प्रणाली के अनुसार जो हमारे संप्रदाय के सेवक हैं उनका ही द्रव्य गुरु-शिष्य के संबंध से लेकर सेवा में उपयोग कराया जा सकता है। संप्रदाय में सर्व

प्रकार के दान चढ़ावा का उपयोग सेवामें किया नहीं जाता है। और कदाचित कहीं किया जाता हो तो वह संप्रदाय के नियमों से विरुद्ध होनेसे बंद कर देना चाहिये।

योजना की कलम नं. ४५ का (अत्यन्त आवश्यक दशा में राजस्थान सरकार को अधिकार है कि वह हस्तक्षेप करके प्रबंध के लिये नियम बनादें) लेख संप्रदाय की संस्कृति और प्रणाली पर सदन्तर कुठाराघात करता है। क्योंकि राजस्थान सरकार सम्प्रदाय के सिद्धान्त आदि से सर्वथा अपरिचित हो यह स्वाभाविक है और उसकी दृष्टि भौतिक संपत्ति की ओर हो, यह भी निर्विवाद है। इसलिये ठाकुरजी के तनिक सुख के लिये लाखों रुपयों की न्योछावर करनेवाला यह संप्रदाय अपने प्रमुख आराध्य देव श्रीनाथजी की सेवा विषयक प्रबंध में राज्य व अन्य किसी का भी हस्तक्षेप करा कर अपनी आध्यात्मिक भावना और प्रणाली की किस प्रकार रक्षा कर सकता है?

इस प्रकार यह समस्त योजना उसकी कलम ३ में, जिसमें संप्रदाय के निश्चय, नियम, रीतरिवाज और साधन के अनुसार प्रबंध करने का ऐलान करती है वह उसके विरुद्ध अन्य कलमों को अपने में विसङ्गत रूप से धारण करने के कारण अमान्य हो जाती है। और संप्रदाय के सिद्धांत और भावना की नितांत घातक है। इसलिये किसी भी आचार्यवंशज और संप्रदाय के सुज्ञाता वैष्णव द्वारा यह कदापि मान्य नहीं हो सकती है। कमिटि के संप्रदाय प्रेमी सदस्यों को भी इसका विरोध करना ही चाहिये। और इसके विरोध में उससे त्याग पत्र भी देना चाहिये, ऐसी हमारी संमति है।

आधारभूत सहायक ग्रन्थों की तालिका

नाम	प्रकाशन वर्ष तथा प्रकाशक
१) षष्ठनिधिस्वरूप श्रीबालकृष्णजी (सूरत) का चरितामृत	प्र. व. वि. सं. २०३२ प्र. कान्तिलाल गोकलदास मशरुवाला, हरिपरा, सूरत.
२) नूतन स्तोत्र निकुंज	प्र. व. वि. सं. २०४१ प्र. श्रीयदुनाथ ग्रंथ प्रकाशन, १०।१३७, सूरत–३.
३) सेव्य सेवक रसास्वाद	प्र. व. वि. सं. २०४१ प्र. श्रीवल्लभ ग्रन्थ प्रकाशन, ६।७०९, गलेमंडी, मोटी शेरी सूरत–३.
४) श्रीयदुनाथ भावनिका	प्र. व. श्रीयदुनाथोत्सव ४२५ अं. रा. पु. मा. वै. परिषद्, सूरत शाखा, ५–व्रजरत्न एपार्टमेंट, मेजे नाईन फ्लॉर, सूरत–३.
(५) श्रीवल्लभदिग्विजय	प्र. व. वि. सं. २०४१ श्रीवल्लभ पब्लिकेशन्स्, सूर्यनारायण बाग, रावपुरा रोड, बड़ोदा.
६) श्रीमद्वल्लभाचार्यके दार्शनिक आचारकी परंपरा	प्र. व. वि. सं. २०२१ प्रका. श्रीनागरदास का. बांभणिया, चम्पारण्य, अहमदाबाद.
७) गोस्वामी श्रीवल्लभजी महाराज के बावन वचनामृत	प्र. व. प्रका. श्रीमती मीनाक्षीबेन मूलराज, तीनबत्ती, वालकेश्वर, बम्बई.

८) निजवार्ता-घरूवार्ता प्रथमावृत्ति संस्करण	प्र. व. वि. सं. १९५९ प्रका. गोवर्धनदास लक्ष्मीदास, बम्बई.
९) षट्ऋतुवार्ता	प्र. व. वि. सं. २०२५ प्रका. श्रीगोवर्धन ग्रंथमाला कार्यालय, दाउजीघाट, मथुरा.
१०) निजवार्ता-घरूवार्ता द्वितीय आवृत्ति संस्करण	प्र. व. वि. सं. २०१५ प्रका. श्रीबजरंग पुस्तकालय, दाउजी-घाट, मथुरा.
११) संप्रदाय प्रदीप	प्र. व. वि. सं. १९९१ प्रका. श्रीविद्याविभाग, कांकरोली, राजस्थान.
१२) श्रीपुष्टिमार्गीय सेव्य स्वरूप दर्पण	
१३) नि. ली. गो. श्रीरणछोडलालजी महाराज राजनगरवालाना वचनामृतो अने प्रसंगो (संकलनकर्ता द्वारा स्वयं-सम्पादित)	(प्र.-आ.) प्र. व. वि. सं. २०२७ प्रका. श्रीपुष्टिमार्गीय युवक परिषद्–मुंबई–२.
१४) ,, ,,	(द्वि.-आ.) प्र. व. वि. सं. २०४३ प्रका. श्रीवल्लभ ग्रंथ प्रकाशन कार्यालय, ६।३०९, गलेमंडी, मोटी शेरी, सूरत–३.
१५) टीपण अथवा संग्रहस्थान	प्र. व. वि. सं. १९७४ प्रका. पं. श्रीगटुलालाजी पुस्तकालय, बम्बई–२.
१६) श्रीमद्वल्लभाचार्यजीनां वंशनी वंशावली	प्र. व. ई. सन. १९४३ प्रका. जेठानंद आसनमल ट्रस्ट, २६६, कालबादेवी रोड, बम्बई–२.
१७) कांकरोलीका इतिहास	प्र. व. वि. सं. १९९६ प्रका. श्री विद्याविभाग कांकरोली, राजस्थान.
१८) सहस्रश्लोकी-सेवाभावना	प्र. व. वि. सं. १९९८ प्रका. जेठानंद आसनमल ट्रस्ट, १६६, कालबादेवी रोड, बम्बई–२.

१९) संप्रदायकल्पद्रुम	प्र. व. वि. सं. १९५० मुद्रक : लक्ष्मी वेंकटेश्वर छापाखाना, बम्बई.
२०) श्रीद्वारिकेशजीकृत भावभावना	प्र. व. वि. सं. १९९३ प्रका. वसंतराम हरिकृष्ण शास्त्री, पञ्चमपीठ विद्याविभाग की ओरसे.
२१) श्रीमद्वल्लभाचार्यचरितम्	प्र. व. वि. सं. २०२६ प्रका. कवि पुरुषोत्तमदास त्रिभोवनदास परिख, सांथ पीपली, नडियाद.
२२) श्रीमुकुन्दरायजीकी वार्ता	प्र. व. अनुल्लिखित प्रका : दामोदरदास, राजा दरवाजा, वाराणसी.
२३) पूज्यपाद गो. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज (सूरत) की नडियाद केस में जुबानी.	ता. २।११।४६ के दिन बी. बी. देसाई कमिश्नर ऑफ खैरा स्पेशिअल सूट नं. २५४३.
२४) गो. श्रीगिरधरलालजी के १२० वचनामृत	प्र. व. वि. सं. २०२५ प्रका : श्रीबजरंग पुस्तकालय, दाउजी-घाट, मथुरा.
२५) अणुभाष्य चतुर्थाध्याय (प्रथमावृत्ति)	प्र. व. वि. सं. १९८४ प्रका. : सेठ गोवर्धनदास सुंदरदास.
२६) सर्वनिर्णय निबंध	प्र. व. वि. सं. १९९९ श्रीजेठानंद आसनमल ट्रस्ट, १६६, कालबादेवी रोड, बम्बई–२.
२७) साधनदीपिका (पुष्टिभक्तिसुधा वर्ष ६ अंक ५–६)	प्र. व. वि. सं. १९७२ प्रका. वाडीलाल नगीनदास शाह पुष्टिभक्तिसुधा कार्यालय, बम्बई.
२८) सिद्धांतमुक्तावली	प्र. व. वि. सं. १९७९ प्रका. मूलचंद तुलसीदास तेलीवाला, बम्बई.

२९) भक्तिवर्धिनी	प्र. व. वि. सं. १९७७ प्रका. मूलचंद तेलीवाला, बम्बई.
३०) संन्यासनिर्णय	प्र. व. वि. सं. १९७४ प्रका. मूलचंद्र तेलीवाला, बम्बई.
३१) चतुश्लोकी	प्र. व. वि. सं. १९७८ प्रका. श्रीजीवनेशाचार्य-पुष्टिसिद्धांत कार्यालय, पोरबंदर.
३२) कृष्णाश्रय	प्र. व. वि. सं. १९८३ प्रका. श्रीजीवनाचार्य पुष्टि सिद्धांत कार्यालय, पोरबंदर.
३३) द्रव्यशुद्धि	प्र. व. वि. सं. २०३९ प्रका. चतुर्थपीठ, गोकुल,
३४) सुबोधिनी प्रथमस्कन्ध	प्र. व. वि. सं. १९७१ प्रका. शुद्धाद्वैत सिद्धांत कार्यालय, बडा-मंदिर, बम्बई–२.
३५) सुबोधिनी द्वितीयस्कन्ध	प्र. व. वि. सं. १९७६ प्रका. शुद्धाद्वैत सिद्धांत कार्यालय, बडा-मंदिर, बम्बई–२.
३६) सुबोधिनी दशमस्कन्ध	प्र. व. वि. सं. १९७९–१९८९ प्रका. श्रीमूलचन्द्र तेली बाला तथा मन्नलाल शास्त्री बम्बई.
३७) सुबोधिनी एकादशस्कन्ध (विविध टीकोपेत श्रीमद् भागवतम्)	प्र. व. वि. सं. २०२९ प्रका. श्रीकृष्णशंकर शास्त्री भागवत विद्यापीठ, अहमदाबाद.
३८) श्रीमद्विट्ठलेश्वराणां पत्राणि (पुष्टि-भक्तिसुधा वर्ष ४ अंक ४)	प्र. व. वि. सं. १९८० प्रका. वाडीलाल नगीनदास शाह पुष्टिभक्तिसुधा कार्यालय, [illegible], बम्बई.

३९) श्री गिरधरजी लिखित उत्तराधिकारपत्र ('सांप्रदायिक इतिहास' पृष्ठ ४ वेणुनाद वर्ष १ अंक १)	प्र. व. वि. सं. १९७७ प्रका. वंशीधर दामुभाई मेहता, सी. पी. टेंक रोड, बम्बई.
४०) श्रीपुरुषोत्तमजीलिखित दत्तकपत्र ('सांप्रदायिक प्राचीन इतिहास' पृष्ठ ६१, वेणुनाद वर्ष १ अंक २)	प्र. व. वि. सं. १९७८ प्रका. वंशीधर दामुभाई मेहता सी. पी. टेंक रोड, बम्बई.
४१) श्रीविट्ठलेशचरितामृत	प्र. व. वि. सं. २०४० प्रका. श्रीवल्लभ ग्रन्थ प्रकाशन कार्यालय, रमण चेम्बर्स, मोती टॉकीज के पास, सूरत-३.
४२) मूल पुरुष (नित्य नियमघोलपद संग्रह)	प्र. व. वि. सं. २०४१ प्रका. रमणिकलाल पोपटलाल परीख, पाटण.
४३) त्रिविधनामावली	प्र. व. वि. सं. १९७७ प्रका. त्रिभुवनदास पीताम्बरदास शाह, नडियाद.
४४) सिद्धांतरहस्य	प्र. व. वि. सं. १९८० प्रका. मूलचंद तुलसीदास तेलीवाला, बम्बई.
४५) नवरत्न	प्र. व. वि. सं. १९८१ प्रका. मूलचंद तुलसीदास तेलीवाला, बम्बई.
४६) शिक्षाश्लोकी	प्र. व. वि. सं. १९७८ प्रका. श्रीजीवनेशाचार्य, पुष्टि सिद्धांत कार्यालय, पोरबंदर.
४७) विवेकधैर्याश्रय	प्र. व. वि. सं. १९८१ प्रका. गो. श्रीरणछोडलालजी महाराज, पोरबंदर.
४८) अणुभाष्य (मूल)	प्र. व. ई. स. १९२१ प्रका. मुम्बापुरस्थ राजकीय ग्रंथशाला

४९) सर्वोत्तमस्तोत्र (बृहत्स्तोत्रसरित्सागर)	प्र. व. वि. सं. २०३९ प्रका. चतुर्थपीठ, गोकुल
५०) वल्लभाख्यान	प्र. व. वि. सं. २०४१ प्रका. रमणिकलाल पोपटलाल परीख पाटण.
५१) पुष्टिमार्गमां गादी अंगेना विवाद ने कोई अवकाश ज नथी (पू. श्रीव्रज-रत्नलालजी महाराजकी आज्ञासे प्रकाशित वक्तव्य)	प्र. व. वि. सं. २०४३ अनेक समाचारपत्र तथा सांप्रदायिक पत्रिकाओंमें प्रकाशित.
५२) अकबर (ले. राहुल सांकृत्यायन)	प्र. व. ई. स. १९६७ प्रका. किताबमहल, दिल्ली.
५३) अणुभाष्यप्रकाश	प्र. व. ई. स. १९०६–७ प्रका. चौखंभा संस्कृत सीरीज, वाराणसी.